नवउदारवाद के राज में भारतीय कृषि

विषय – सूची

इस प्रयास के बारे में 3

आमुख 5

I. मोदी सरकार की 'किसानों की हमदर्द' वाली छवि प्रस्तुत करने का प्रयास 8

II. 2004 के बाद की आर्थिक वृद्धि के दौर की समाप्ति 15

III. बेड़ियों में कैद खेती–किसानी 28

IV. विदेशी निवेश का कच्चा चिट्ठा 37

V. किसानों के दावों से सरकार को बचाती बीमा–योजना 47

VI. खेती–किसानी को 'बाज़ारू ताकतों' के हवाले करने की एक विनाशकारी नीति 60

VII. किसान के रूप में गुलाम 77

VIII. पच्चीस सालों के उदारवादी नीति का प्रभाव: शोषणकारी शक्तियों का कसता शिकंजा 93

This text is a Hindi translation of *Issues 66–67: India's Peasantry Under Neoliberal Rule* of the journal *Aspects of India's Economy* brought out by *RUPE*. The original journal can be found at the internet URL: http://www.rupe-india.org/.

The translation is done by *Karwan Collective*. Contact us at email id: karwan.collective@gmail.com.

यह पुस्तक *रुपे* द्वारा निकाले जाने वाली पत्रिका *आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियास इकोनोमि (Aspects of India's Economy)* के *खंड 66–67: इंडियास पेसेंट्री अंडर निओलिब्रल रूल (India's Peasantry Under Neoliberal Rule)* का हिंदी अनुवाद है। मूल पत्रिका इंटरनेट यू.आर.एल. (internet URL) http://www.rupe-india.org/ पर उपलब्ध है।

यह अनुवाद *कारवां कलेक्टिव* ने किया है। हमसे सम्पर्क करें ईमेल आइडी (email id) karwan.collective@gmail.com पर।

इस प्रयास के बारे में

आस्पेक्ट्स (Aspects) का अनुवाद क्यों ?

1991 में हमारे देश की अर्थव्यवस्था में एक निर्णायक मोड़ आया और उसके चलते पिछले 26 सालों में देश की अर्थनीति में आमूल बदलाव हुए। अर्थव्यवस्था में आए बदलावों को छोटे में LPG की तिकड़ी कहा जाता है – Liberalisation (उदारीकरण), Privatisation (निजीकरण) और Globalisation (भूमंडलीकरण), और हाँ इससे चूल्हे जलनेवाले LPG का कोई सरोकार नहीं, बल्कि इसके चलते बहुतों के घरों में चूल्हे ठन्डे पड़ने की नौबत आ गई है। हम में से कई लोग इस पेंचीदे दौर की राजनैतिक समझ आस्पेक्ट्स की प्रतियों से बनाते आ रहे हैं। यह सराहनीय प्रयास हम जैसे बहुतों के लिए एक वरदान साबित हुआ है, ख़ास कर इसलिए क्यों कि इसी दौरान मुख्यधारा का मीडिया पूरी तरह से सत्ता का मुखपत्र बन गया है और उनसे किसी भी गंभीर विषय पर समझ बना पाना नामुमकिन हो गया है। Aspects की प्रतियों से ही हमने समझा कि growth और GDP का छलावा क्या है, तथाकथित मध्यम वर्गीय भारत और उसकी बाज़ार में भूमिका – खरीददारी के लिए कभी न मिटने वाली भूख का सही आंकलन, यहाँ तक कि इराक पर अमरीकी हमले का असली मकसद क्या रहा है, और बहुत कुछ। पर कई सालों से एक बात हम सबको परेशान कर रही थी कि यह प्रयास सिर्फ अंग्रेजी तक सीमित नहीं रहना चाहिए, यह प्रांतीय भाषाओं में भी उपलब्ध होना चाहिए। जैसे ही हम अंग्रेजी जानने वालों के सीमित दायरे से बाहर झांकते हैं तो किसी भी तरह के बढ़िया विश्लेषण का अभाव महसूस करते हैं। विडम्बना की बात तो यह है कि आस्पेक्ट्स जैसे प्रयास का सार्थक उपयोग वही कर सकते है जो शायद अंग्रेजी नहीं जानते। इसमें हमें यह बात भी स्वीकारनी होगी कि हम हिन्दीभाषी इलाके के लोग इस लिहाज़ से काफी पिछड़े रहे – आस्पेक्ट्स का कई सारी भाषाओं में नियमित अनुवाद होता आ रहा है। और इसी के चलते हम लोगों ने भी हिम्मत की, और हमारा पहला प्रयास आप के सामने है।

इस अंक से क्यों शुरुआत की ?

हमारे पहले प्रयास के लिए हमने आस्पेक्ट्स का 66–67 अंक चुना – *नवउदारवाद के राज में भारतीय कृषि*। हमारा मानना है कि इस देश की अर्थव्यवस्था के किसी भी पहलू की राजनैतिक समझ बनाने के लिए कृषि क्षेत्र का आंकलन ज़रूरी है। कृषि क्षेत्र, जिस पर आज भी हमारी आधे से भी ज़्यादा आबादी रोज़गार के लिए निर्भर है और खाने के लिए तो पूरी आबादी ही उस पर निर्भर है, इसके बावजूद, यह क्षेत्र लम्बे समय से भीषण संकट से गुज़र रहा है। इस भयावह संकट से जूझने के लिए शासक वर्ग कई तरह के प्रयास करते आ रहें हैं। पर यह सारे प्रयास सिर्फ कृषि क्षेत्र की 'मरम्मत' करने के लिए ही रहे हैं – मानो कोई मामूली चोट हो जिस पर बैंडऐड लगा देने से ठीक हो जाएगी; किसानों की बुनियादी दिक़्क़तों को कृषि क्षेत्र के संकट से जोड़ कर कभी नहीं देखा गया है। वास्तव में मुख्यधारा तो किसानों को ही कृषि क्षेत्र में विकास का प्रमुख अड़चन मानती है, ज़ाहिर है कि

कृषि क्षेत्र के आमूल बदलाव में किसानों की निर्णायक भूमिका हो सकती है ऐसी संभावना को ही वह सिरे से खारिज़ करते हैं। पर जो लोग इससे गुणात्मक रूप से भिन्न परिवर्तन चाहते हैं उन्हें इस भीषण संकट से जूझने के लिए एकदम अलग तरीके अपनाने होंगे। उन प्रयासों के केंद्र में होंगे किसान – खासतौर पर छोटे, हाशिए पर और भूमिहीन किसान, और खोजनी होंगी वह सभी बाधाएं जो उनकी उत्पादकता, संगठन बनाने की शक्ति, सामूहिकता और परिवर्तनकारी क्षमता को रोके हुए हैं। इसी उम्मीद के साथ हमने इस अंक को सबसे पहले अनुवाद करने का फैसला किया है।

हम कौन हैं?

हम अकेले ही चले जानिब ए मंज़िल मगर,
लोग साथ आते गए और कारवां बनता गया।

मजरूह सुल्तानपुरी की यह खूबसूरत पंक्तियाँ हम सभी पर लागू होती हैं जो मुख्यधारा से हटकर कोई भी प्रयास करना चाहते हैं। इसलिए हमने हमारे ग्रुप का नाम **कारवां कलेक्टिव** रखा है। सोच यह है कि हम भौगोलिक रूप से अलग–थलग बेशक हों पर हमारी सोच में एक हद तक समानता है – और हम उसी का जश्न मनाना चाहते हैं। हम सब जानते हैं कि वैचारिक एकाकीपन झेलना कितना मुश्किल होता है और इसलिए हम–सोच साथियों की तलाश में हम सब रहते हैं, हमेशा ही। और उसी को ठोस रूप देने की एक शुरुआत है यह सामूहिक प्रयास। इत्तेफाक से हम में से कई लोग आई.आई.टी. (IIT) कानपुर में किसी न किसी दौर में साथ रहे हैं, और साथ में कई मुद्दों पर काम भी किया है। उस अनुभव की हमारी सोच को दिशा देने में निर्णायक भूमिका रही और साथ ही बने कुछ बेहतरीन दोस्त।

इस पुस्तिका का अनुवाद हम कई लोगों ने मिलकर किया है। एक व्यक्ति का न होने के कारण पढ़नेवालों को भाषा, अभिव्यक्ति, और स्टाइल में फर्क ज़रूर महसूस होगा पर इसे करने में हमें बहुत मज़ा आया। कुछ नए साथी भी जुड़े और हमें उम्मीद है कि आगे और भी जुड़ेंगे। आप हमारे प्रयास को ज़रूर पढ़िएगा और अपने सुझाव और टिप्पणियां देकर हमारी हौसला अफ़ज़ाई करिएगा।

–कारवां कलेक्टिव

सम्पर्क: karwan.collective@gmail.com

आमुख

हिंदुस्तान में साल 2015–16 वर्षा की कमी वाला लगातार दूसरा साल था। इस दौरान एक बड़े पैमाने पर ग्रामीण संकट दिखा, जिनसे जुड़ी खबरें अंततः कॉर्पोरेट मीडिया में भी शुमार हुईं। इसके बाद हिंदुस्तान के अधिकांश हिस्सों में 2016–17 में मानसून सामान्य रहा, जिसके चलते मीडिया में व्यापक रूप से अनुमान लगाया गया कि कृषि मोर्चे पर एक लाभ की स्थिति होगी।

इसके बाद, अक्टूबर–दिसंबर 2016 के पूर्वोत्तर मानसून ने धोखा दिया। नतीजतन, सभी दक्षिणी राज्य अब एक गंभीर सूखे की पकड़ में हैं; विशेष रूप से तमिलनाडु जो कि जीवित स्मृति में सबसे बुरी तरह सूखाग्रस्त है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि 2016 के दौरान अधिकांश राज्यों में उत्पादन में उछाल आया। फिर भी, हिंदुस्तान के कृषि क्षेत्र में संकट के दीर्घकालिक कारक अब भी मौजूद हैं। आगे इस लेख में, हम इस निरंतर संकट के कुछ पहलुओं पर गौर करेंगे। हम ख़ासतौर पर निम्न बिंदुओं पर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

(1) नवीनतम बजट (2017–18) ने पिछले वर्ष के दावे को दोहराया है कि सरकार पांच वर्षों में किसानों की आय को दोगुना कर देगी। हालांकि, दोनों ही बजट सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के प्रतिशत के रूप में कृषि क्षेत्र के लिए किए गए आवंटन में वृद्धि नहीं दर्शाते हैं। वैसे, बड़े पैमाने पर संकट के कारण ग्रामीण रोजगार के लिए आवंटन बढ़ गया है, लेकिन यह भी सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 0.3 प्रतिशत ही है।

प्रधानमंत्री के द्वारा प्रचारित किया गया पांच वर्षों में किसानों की आय को दोगुना करने का लक्ष्य अर्थहीन है यदि दोहरा करने का अर्थ मात्र शाब्दिक है (यानी, मुद्रास्फीति की दर को अनदेखा करते हुए)। यदि वह पांच साल में वास्तविक तौर पर आय को दोगुनी करने की बात कह रहे हैं, तो भी असल में किए गए बजटीय आवंटन को देखते हुए यह बात बेमानी लगती है।

(2) एनडीए सरकार (1999–2004) के दौरान कृषि क्षेत्र में आई एक गंभीर मंदी के बाद (2004 के बाद) दो कारकों के कारण कृषि विकास में वृद्धि देखी गई। सबसे पहले, यूपीए सरकार, जो कि एनडीए के प्रति किसानों के रोष के चलते ही चुनकर आई थी, ने कुछ हद तक कृषि और ग्रामीण रोजगार को पुनर्जीवित करने वाली नीतियों को आगे बढ़ाया। दूसरी तरफ, एक वैश्विक आर्थिक बुलबुले के चलते दुनिया भर में कृषि उत्पादों की कीमतों में उछाल आया (जिससे किसानों को भी फायदा हुआ), और निर्माण उद्योग में अकुशल श्रम की मांग बढ़ी (जिसके चलते शहरी और ग्रामीण मजदूरी में बढ़ोत्तरी हुई, जो कि अब एक किसान परिवार की आय का एक महत्वपूर्ण घटक है।)

(3) हालांकि, उच्च विकास की इस अवधि के दौरान भी किसानों का संकट हल नहीं हुआ, बल्कि कुछ समय के लिए और कुछ हद तक कम हो गया। अधिकांश किसान अपने अनिश्चित अस्तित्व के साथ ही जूझते रहे और भारी कर्ज में डूब गए, जिसमें से एक बड़ा हिस्सा साहूकारों और व्यापारियों से लिया गया था।

यूपीए –2 सरकार वर्ष 2010–11 के बाद राजकोषीय घाटे में कटौती करने वाली नीतियों (यानी कि मांग को दबाने वाली नीतियों) को लागू करने पर आमादा थी, वहीं वैश्विक बाज़ार में वस्तुओं की कीमतों में तेजी का दौर भी खत्म हो चुका था। नतीजतन, भारतीय कृषि क्षेत्र के नकारात्मक पहलू फिर उभरकर आ गए – निवेश में गिरावट, विकास की धीमी दरें, बिगड़ती व्यापार की शर्तें, वास्तविक मजदूरी गिरने और बढ़ती किसान आत्महत्याएं। यह नकारात्मक रुझान और भी गहराते गए व मोदी शासन के तहत तेज हो गए।

चूंकि सरकार मंदी के इस दौर में समग्र व्यय व जीडीपी के अनुपात को कम कर रही है, जिसके चलते मांग में और भी कमी आ रही है; नतीजतन, पहले से ही निराश हुए किसानों की आय और भी कम होती जा रही है। यह मांग दबाने वाली नीतियाँ वास्तव में 1930 के दशक की औपनिवेशिक नीतियों की याद दिलाती हैं, जिनके चलते किसानों की खून–पसीने की कमाई अंग्रेजों के खजानों तक पहुंचती रही। ऐसे में, कृषि के अलग–अलग मदों के लिए आवंटित बजट में कुछ बढ़ोत्तरी व किसानों की आय को दोहरा करने की शेखी बखारने वाली बात, एक मजाक है।

(4) वित्त मंत्री के दावों के विपरीत, 2016–17 के बजट भाषण में घोषित खाद्य उत्पादों की मार्केटिंग में 100 प्रतिशत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफडीआई) लाने से सब्जियों और फलों के छोटे उत्पादकों को मदद नहीं मिलेगी। हिंदुस्तान की सब्जी और फलों की आपूर्ति श्रृंखला में बहुत बड़ी बर्बादी के भारी दावे झूठे साबित हुए हैं, और साथ ही यह दावा भी कि कॉर्पोरेट निवेश इस बर्बादी को खत्म करेगा। हालांकि सार्वजनिक (सरकारी) क्षेत्र के थोड़े ही निवेश व हस्तक्षेप से बागवानी क्षेत्र में छोटे उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों को ही लाभ मिल सकता था; लेकिन इस रास्ते को अपनाने से इनकार कर दिया गया, क्योंकि सरकार की प्राथमिकता विदेशी और अन्य निजी कॉर्पोरेट निवेशकों के लिए व्यापारिक अवसर बनाना है।

बड़े पैमाने पर विदेशी निवेश में समय लग सकता है; क्यूंकि यह कृषि क्षेत्र में सरकार के गैर–हस्तक्षेप की एक व्यापक और स्पष्ट नीति का इंतजार कर रहा है। विदेशी निवेशकों की यह मांग, और असल में इस क्षेत्र में विदेशी निवेश के बड़े पैमाने पर आने के बहुत गंभीर व नकारात्मक प्रभाव पड़ेंगे, जिसमें से एक है छोटे किसानों का विस्थापन।

(5) सरकार अपनी नई फसल बीमा योजना के नगाड़े पीट रही है। हालांकि नई योजना के प्रावधान मौजूदा कष्टप्रद योजना के मुकाबले बेहतर हैं, और यह भी संभावना है कि सरकार नई योजना के तहत व्यापक रूप से कवरेज का विस्तार करेगी, लेकिन असल बात कुछ और है। इस योजना के चलते सरकार को यह आधार मिलेगा कि भविष्य में दुर्घटनाग्रस्त किसानों को राहत और क्षतिपूर्ति की जिम्मेदारी से वह अपने हाथ पीछे खींच

सके। दूसरे शब्दों में कहें तो, यह योजना सरकार की अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों, जैसे कि स्वास्थ्य, से हाथ खींचने की व्यापक नीति का ही एक हिस्सा है।

(6) एक दफे जब हम "किसान–मित्र" कहे जा रहे इस बजट का आवरण हटा कर देखते हैं, तो पाते हैं कि कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश को कोई वास्तविक जोर नहीं दिया गया है। यहाँ तक कि व्यवस्था के अर्थशास्त्री भी यह बात स्वीकारते हैं कि कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश निजी निवेश को बढ़ावा देता है; यह निवेश उत्पादन वृद्धि को गति देता है और उत्पादकता बढ़ाता है; और यह भी कि कृषि उत्पादन में सुधार, गरीबी को कम करने का सबसे प्रभावी तरीका है। लेकिन, कृषि निवेश में सार्वजनिक क्षेत्र की हिस्सेदारी में लगातार गिरावट आई है।

जलवायु परिवर्तन, जिनके प्रभाव पहले से ही हम पर दिखाई दे रहे हैं व और भी तेज होने वाले हैं, सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश की जरूरत को और भी पुख्ता बनाते हैं। ऐसे में मुक्त बाजार विचारधारा के केवल सबसे असहाय बौद्धिक ग़ुलाम यह सोच रख सकते हैं कि निजी निवेशक फौरी तौर पर जरूरी बदलावों के लिए किसानों को पर्याप्त रूप से तैयार कर सकते हैं।

(7) अंततः, कृषि के संकट को ध्यान में रखकर बनाए गए शाशक वर्ग के तमाम कार्यक्रम, यहाँ तक कि वे भी जिनमें सार्वजनिक खर्चों को महत्व दिया गया है, "कृषि" को सुधारने के सवाल को किसानों के संकट से अलग करके देखते हैं। कृषि क्षेत्र के परिवर्तन में किसानों की किसी भूमिका की गुंजाइश को भी वे नजरअंदाज कर देते हैं; असल में प्रभावी व्यवस्था किसानों को ऐसे परिवर्तनों के रास्ते में मुख्य *बाधा* के रूप में देखती है।

दरअसल, उन बदलावों को देखते हुए जिनकी वे मांग कर रहे हैं, उनसे और किसी भी तरह की उम्मीद लगाना निरर्थक है। यह जिम्मेदारी उन लोगों की है, जो कृषि संकट को एक अलग नज़रिए से देखने की कोशिश कर रहे हैं, कि किसानों, खासतौर पर छोटे, सीमांत व भूमिहीन किसानों को इस संकट से उबरने की दिशा में पहला बिंदु बनाया जाए। व उन बाधाओं को पहचाना जाए जो उनकी उत्पादक, संगठनात्मक, सामूहिक और परिवर्तनकारी क्षमताओं को आगे बढ़ने से रोके हुए हैं।

I. मोदी सरकार की 'किसानों की हमदर्द' वाली छवि प्रस्तुत करने का प्रयास

लगभग एक साल पहले मोदी सरकार का प्रेम किसानों के लिए जागा। यह एक संकेत था कि राजनीतिक विकास भाजपा के आशानुरूप नहीं हो रहा था। याद करें कि जब मोदी सरकार सत्ता पर काबिज हुई तो उसने खुद को गरीबों की पार्टी के रूप में पेश न करते हुए 'आशावान' वर्गों के चैंपियन के रूप में प्रस्तुत किया था; वह वर्ग जिसकी आंखों में विकास का सपना था; विकास गरीबी जैसी समस्याओं का समाधान करेगा। जुलाई 2014 के अपने पहले बजट भाषण की शुरूआत में अरुण जेटली काफी मजबूती से कहते हैं:

> भारत के लोगों ने निर्णायक रूप से एक बदलाव के लिए वोट दिया है। उनका यह फैसला दर्शाता है कि लोग वर्तमान स्थिति से कितने खीजे हुए हैं। आज का भारत बिना किसी बाधा के बढ़ने की इच्छा रखता है। गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले खुद को इस अभिशाप से मुक्त करने के लिए बेचैन हैं। जिन लोगों को कठिन चुनौतियों से उभरने का अवसर मिला है, वे आशावान हो गए हैं। अब वे नव मध्यम वर्ग का एक हिस्सा बनना चाहते हैं।

और तब मोदी ने बड़े ही नाटकीय ढ़ंग से यह घोषणा की कि वे राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना को केवल इस कारण से जिंदा रखे हुए हैं ताकि देश को विकसित करने में कांग्रेस की विफलता को दुनिया के सामने उजागर किया जा सके।

> मेरी राजनीतिक सूझ–बूझ कहती है कि मनरेगा कभी बंद मत करो, क्योंकि मनरेगा कांग्रेस पार्टी के साठ सालों की विफलताओं का जीता–जागता स्मारक है; जहाँ लोगों को गढ्ढे खोदने के पैसे दिए जाते हैं।

'विकास' में तेजी लाने के इस प्रयास में, पर्यावरण मंत्रालय ने और भी तेज दर से परियोजनाओं को मंजूरी दी, सरकार ने कॉर्पोरेट क्षेत्र के पक्ष में भूमि अधिग्रहण अधिनियम में संशोधन करने का प्रयास किया और मनरेगा के तहत रोजगार के व्यक्ति–दिन 2013–14 और 2014–15 (इस वर्ष सूखा पड़ा था) के बीच 25 प्रतिशत तक घट गए। शासन की कमजोर स्थिति को देखते हुए, विपक्षी दलों ने इसे कॉर्पोरेट–समर्थक व अमीरों की सरकार के रूप में पेश करना शुरू कर दिया– जैसा कि राहुल गांधी ने कहा था, *"सूट–बूट की सरकार"*।

मोदी सरकार के पहले दो सालों में ग्रामीण संकट के व्यापक प्रमाण सामने थे: विपत्तियों से निपटने के लिए बड़े पैमाने पर पलायन[1]; किसान आत्महत्याओं में तेजी से वृद्धि (2015 के लिए राष्ट्रीय अपराध अनुसंधान ब्यूरो

1 फ्रंटलाइन, "ग्रामीण त्रासदी", कवर स्टोरी (Frontline, "Rural tragedy", cover story), 04/03/2016.

के आँकड़े देखें[2]), 2015–16 तक वास्तविक कृषि मजदूरी में एक तेज गिरावट[3], और 2010–11 के बाद से कृषि के लिए व्यापार के नियमों का लगातार बिगड़ना[4]।

साल 2016–17 में दिल्ली व बिहार में हुई चुनावी हार के बाद बीजेपी के सुर में आए बदलावों को साफ देखा जा सकता था। जेटली को उन "पददलितों" (downtrodden) का पता चल गया जिनके कंधों पर पिछले 2 सालों से व्यस्त सरकार चढ़ी हुई थी:

> हम इस सिद्धांत पर विश्वास करते हैं कि सरकारी पैसा आम लोगों का है और हम सरकार में बैठे लोगों की यह पवित्र जिम्मेदारी है कि इस पैसे को लोगों के कल्याण, विशेष रूप से गरीब और दलित लोगों के कल्याण के लिए, बुद्धिमानी व सावधानी से खर्च किया जाए ... हमारी सरकार की प्राथमिकता स्पष्ट रूप से कमजोर वर्गों व ग्रामीण क्षेत्रों को अतिरिक्त संसाधन प्रदान करने और सामाजिक तथा भौतिक बुनियादी ढांचे के निर्माण की है।

सरकार का ध्यान अचानक से 'आशावानों' से हटकर 'कमजोरों' पर आना परिणाम था कई वर्गों के उस असंतोष का जिसका सामना मोदी सरकार कर रही थी। अब मोदी सरकार ने खुद को गरीबों की पक्षधर, उनके लिए लड़ने वाली सरकार के रूप में बदल दिया। यहाँ तक कि नोटबंदी को भी अमीरों के खिलाफ एक मजबूत हथियार व गरीब–समर्थक बताकर पेश किया गया था। केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने स्पष्ट रूप से इस बात का खुलासा किया: "पहले कांग्रेस को गरीबों की पार्टी माना जाता था, लेकिन अब यह तमगा हमारे साथ है।"

मनरेगा पर होने वाला खर्च: 2009–10 के स्तर से भारी गिरावट

इन सरकारी दावों के खोखलेपन को ग्रामीण रोजगार योजना से जुड़े आँकड़ों को देखकर साफ समझा जा सकता है। पिछले साल के *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) में कहा गया कि 2014–16 के दौरान 1901 के बाद से केवल चौथी बार ऐसा हुआ है जब लगातार दो सालों तक सूखा पड़ा हो। इस तरह की गंभीर स्थिति में सरकार से अपेक्षा थी कि वह युद्धस्तर पर काम करते हुए लोगों व पशुओं की न्यूनतम जरूरतों को पूरा करने व आजीविका की रक्षा के लिए व्यापक कदम उठाए। ठीक इसके उलट सरकार की प्रतिक्रिया कष्टदायी व कठोर थी। मनरेगा से जुड़े रोजगार में पहले से ही यूपीए के तहत तेजी से कमी आई थी, जो कि वर्ष 2009–10 में

---

2 प्रियंका काकोडकर, "किसान आत्महत्या 2014 और 2015 के बीच में 42 प्रतिशत बढ़ी हैं", टाइम्स ऑफ इंडिया (Priyanka Kakodkar, "Farmer suicides up 42 per cent between 2014 and 2015", Times of India), 6/1/2017.

3 श्रम कार्यालय (Labour Bureau) का आँकड़ा, जैसा कि "कृषि लागत और मूल्य आयोग" द्वारा "रबी फ़सल की मूल्य–नीति की रिपोर्ट: विपरण वर्ष 2017–18", पृष्ठ 69 पर उद्धृत (Commission for Agricultural Costs and Prices, Price Policy for Rabi Crops: The Marketing Season 2017–18, p. 69).

4 आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2014–15, पृष्ठ 18, एवं "कृषि लागत और मूल्य आयोग", द्वारा "ख़रीफ़ फ़सल की मूल्य–नीति की रिपोर्ट: विपरण वर्ष 2016–17",(Commission for Agricultural Costs and Prices, Price Policy for Kharif Crops: The Marketing Season 2016–17, p. 84), पृष्ठ 84.

2.8 अरब व्यक्ति–दिन से 2013–14 में 2.2 अरब व्यक्ति–दिन हो गया था। मोदी सरकार ने *2014–15 के सूखे के दौरान इसे मात्र 1.66 अरब व्यक्ति–दिनों तक* कम कर दिया।

अंतत: 2015–16 के दौरान अत्यधिक ग्रामीण संकट और भाजपा की चुनावी हारों ने सरकार को मनरेगा के व्यय और रोजगार को बढ़ाने के लिए मजबूर कर दिया (जैसा कि चार्ट 1 से देखा जा सकता है)। लेकिन फिर भी, 2015–16 के लिए रोजगार का आँकड़ा 2009–10 के आँकड़े के मुकाबले *17 प्रतिशत कम* था। यहाँ यह बात ध्यान में रखना जरुरी है कि पिछले वर्ष के बकाया भुगतान के चलते एक विशेष वर्ष में व्यय के आँकड़े भ्रामक हो सकते हैं; फिर भी साफ देख सकते हैं कि जीडीपी के प्रतिशत के रूप में इसमें लगातार गिरावट ही आई है। 2016–17 में उत्पन्न रोजगार के आँकड़े फिलहाल हमारे पास नहीं है।

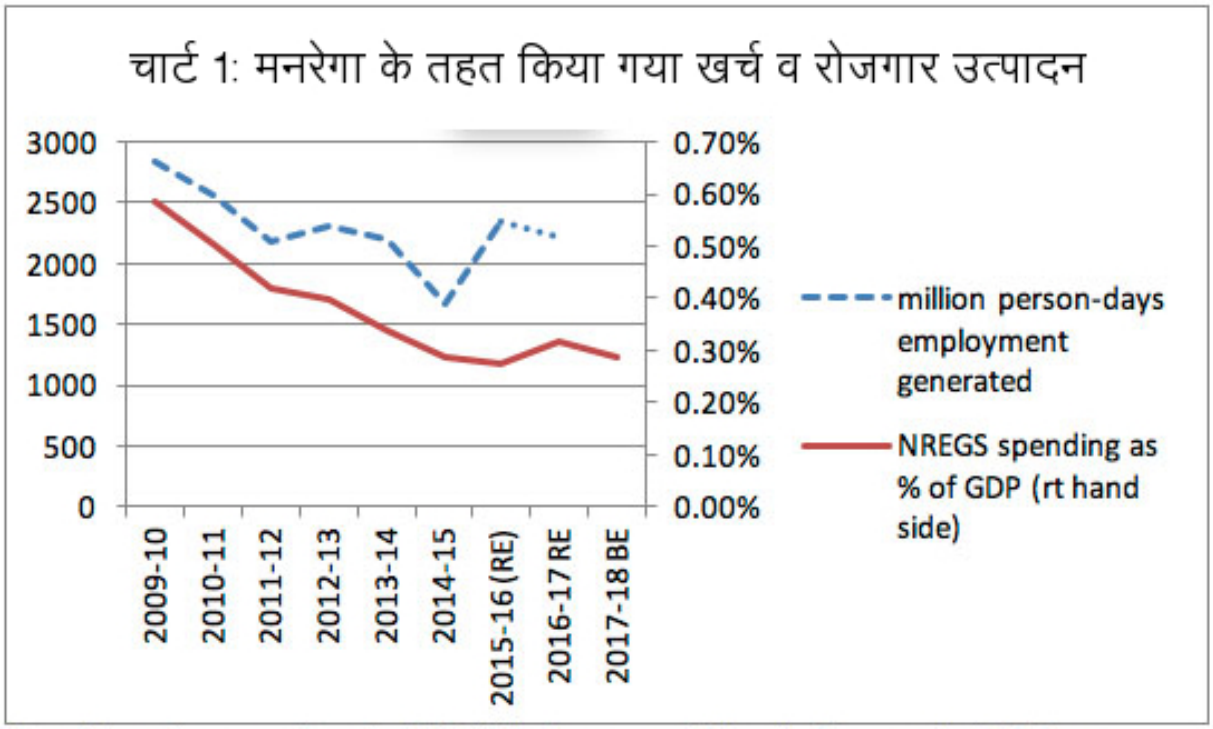

Note: Figure for person-days for 2016-17 is the approved labour budget, not the final figure.

2017–18 के लिए निर्धारित बजटीय आँकड़ा लगभग 2016–17 के लिए संशोधित आँकड़े के स्तर पर ही है। मुद्रास्फीति व बकाया वेतन भुगतान को ध्यान में रखते हुए साफ है कि यह वृद्धि नकारात्मक है।

यहाँ तक कि 2016–17 के लिए मनरेगा बजट में की गई बढ़ोत्तरी का भी अनुमानित जीडीपी के केवल *0.32 प्रतिशत* व 2017–18 के लिए अनुमानित जीडीपी के 0.28 प्रतिशत तक होने का अनुमान है। यह अनुपात *2009–10 के मुक़ाबले (जो 0.59 प्रतिशत था) लगभग आधा* है। इस तरह हम पाते हैं कि ग्रामीण रोजगार योजना को जीवित बनाए रखने की यह कोशिश भी सतही स्तर पर है।

आय 'दोहरीकरण' का अस्पष्ट दावा

सरकार के नए 'गरीबोन्मुखी' रुख के मद्देनज़र, प्रधानमंत्री ने पिछले साल एक अस्पष्ट सी घोषणा की – "हमें 2022 तक किसानों की आय को दोगुना करने का लक्ष्य साधना चाहिए।" (सावधानी से चुने गए शब्द "लक्ष्य" पर गौर करें।) इस घोषणा को बहुत प्रचार मिला, लेकिन कभी भी ना तो प्रधानमंत्री कार्यालय ने और ना ही वित्त मंत्रालय ने यह स्पष्ट किया कि असल में इस घोषणा का क्या मतलब है।

नीति आयोग के एक सदस्य बिबेक देबराय ने एक टेलीविजन साक्षात्कार में स्पष्ट किया कि दोहरीकरण का मतलब *शाब्दिक* था, *वास्तविक* नहीं, यानी कि मुद्रास्फीति को ध्यान में लिए *बिना*। ऐसी परिस्थिति में तो किसानों की आय बिना 'लक्ष्य' बनाए ही दोगुनी हो जाएगी। उदाहरण के तौर पर देखें तो, हर एक खेतिहर मजदूर का जीडीपी का हिस्सा 2004–05 से 2009–10 के बीच शाब्दिक मायनों में दोगुना हो गया, लेकिन असल बढ़ोत्तरी मात्र एक–चौथाई ही थी[5]।

यदि प्रधानमंत्री *वास्तविक* आय की दोहरीकरण की बात कर रहे थे, तो यह तभी संभव है जब विकास की वास्तविक वृद्धि दर लगातार पांच सालों तक सालाना 14 प्रतिशत से अधिक हो। दुनिया के इतिहास में शायद ही कोई ऐसा उदाहरण मिले। क्या इस तरह के एक महत्वाकांक्षी लक्ष्य को पाने के लिए, चालू वर्ष के व्यय या आने वाले वर्ष के बजट में, केंद्रीय सरकारी खर्च से कोई संकेत मिलता है?

ना के बराबर खर्चा (ऊंची दुकान फीके पकवान)

नहीं, ऐसे कोई भी संकेत नहीं हैं। यह सच है कि, अपने पिछले केंद्रीय बजट भाषण (2016–17) में वित्त मंत्री ने एक तोते की तरह अपने मालिक की बात दोहराई: "हमारे देश की खाद्य सुरक्षा की रीढ़ बनने के लिए हम किसानों के आभारी हैं। जरूरत है कि हम 'खाद्य सुरक्षा' से परे सोचें व किसानों को 'आय सुरक्षा' की दिशा में आगे बढ़ाएं। इसलिए, सरकार अब कृषि व गैर–कृषि क्षेत्रों में नए सिरे से हस्तक्षेप कर *2022 तक किसानों की आय को दोगुना* करने की दिशा में काम करेगी।"

लेकिन नतीजा, ढाक के वही तीन पात। उन्होंने वर्ष 2016–17 में कृषि और किसानों के कल्याण विभाग पर जीडीपी का *मात्र 0.26 प्रतिशत* ही खर्च किया, जोकि 2015–16 (0.27 प्रतिशत) के मुकाबले भी कम था[6]। बजटीय अनुमान है कि 2017–18 में यह जीडीपी का 0.25 प्रतिशत ही रह जाएगा।

---

5 2004–05 में कृषि व संबद्धित क्षेत्रों में जीडीपी 5,65,426 करोड़ रुपए से बढ़कर 2009–10 में 10,83,514 करोड़ रुपए हो गया, जबकि इस क्षेत्र में रोजगार 268.6 करोड़ से घट कर 244.9 करोड़ ही रह गया। 2004–05 के रुपए के मूल्य में देखें, तो यह 2009–10 में जीडीपी केवल 6,60,897 करोड़ रुपए ही था।

6 यदि हम 2015–16 के लिए कृषि क्षेत्र में दिए गए अल्पावधि ऋण पर ब्याज सब्सिडी शामिल को शामिल करें, जिसे पहले तो वित्त मंत्रालय के अंतर्गत हुए खर्च के रूप में दर्शाया गया था, लेकिन जिसे 2016–17 से कृषि मंत्रालय में स्थानांतरित कर दिया गया है।

तालिका 1: कृषि, ग्रामीण विकास व खाद पर बजटीय आवंटन (करोड़ रुपए में)				
	2015–16 संशोधित अनुमान	2016–17 बजट	2016–17 संशोधित अनुमान	2017–18 बजट अनुमान
कृषि विभाग	15,810	35,984	39,841	41,835
कृषि अनुसंधान एवं शिक्षा	5,586	6,620	6,248	6,800
पशुपालन, दुग्ध–उद्योग एवं मत्स्य पालन	1,563	1,882	1,994	2,371
वित्त मत्रांलय*	13,000	–	–	–
कुल कृषि	35,959	44,486	48,083	51,006
ग्रामीण विकास विभाग	77,700	86,056	96,060	1,05,448
भूमि संसाधन विभाग	1,578	1,709	1,700	2,310
जल संसाधन	7,032	6,201	4,758	6,887
कुल कृषि, ग्रामीण विकास एवं जल संसाधन	1,22,269	1,38,452	1,50,601	1,65,651
उर्वरक विभाग	73,465	70,039	70,031	70,033
सकल घरेलू उत्पाद (GDP)	1,35,67,192	1,50,65,010	1,50,75,429	1,68,47,500
कुल कृषि व्यय (सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)	0.27%	0.24%	0.26%	0.25%
कुल कृषि–सम्बंधित व्यय (सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)	0.90%	0.90%	1.00%	0.98%
कुल कृषि–खाद व्यय (सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)	1.40%	1.40%	1.46%	1.40%
*किसानों को अल्पावधि ऋण पर ब्याज सब्सिडी 2015–16 तक वित्त मंत्रालय के माध्यम से दी गई थी; 2016–17 से यह कृषि विभाग के माध्यम से दी गई। इसलिए कृषि मंत्रालय द्वारा खर्च में अचानक बढ़ोत्तरी मुख्य रूप से पुराने बजट का फेरबदल है।				

यहाँ तक कि अगर हम कृषि, ग्रामीण विकास (जैसे मनरेगा) और जल संसाधनों पर केंद्र सरकार के व्यय को एक साथ शामिल करके देखें तो यह खर्च 2016–17 में जीडीपी का *मात्र 1 प्रतिशत* है, पिछले साल की तुलना में मात्र 0.1 प्रतिशत की वृद्धि। इसमें अगर खाद (उर्वरक) सब्सिडी को भी जोड़ लिया जाए तब भी इन तमाम मदों पर किया जाने वाला केंद्र सरकारी खर्चा जीडीपी का केवल 1.46 प्रतिशत ही होगा।

असल में राज्य सरकारें कृषि पर केंद्र की तुलना में ज्यादा खर्च करती हैं, जीडीपी का लगभग 1 प्रतिशत, अर्थात् केंद्र के व्यय का लगभग चार गुना। अगर हम कृषि, ग्रामीण विकास और सिंचाई में किए जाने वाले राज्यों के खर्चों को जोड़ दें तो राज्य जीडीपी का लगभग 3 प्रतिशत कृषि पर खर्च करते हैं। इसका मतलब हुआ कि केन्द्र सरकार की तुलना में तीन गुना ज्यादा[7]। इस तरह केंद्र व राज्य के कृषि, ग्रामीण विकास, सिंचाई व खाद सब्सिडी पर किए गए खर्चों को जोड़ दिया जाए तो यह होगा जीडीपी का लभग 4.5 प्रतिशत।

मात्र इतना खर्च, उस क्षेत्र में जिसे वित्त मंत्री ने "देश की खाद्य सुरक्षा की रीढ़" कहा था और जो लगभग आधे कामगारों को रोजगार देता है। हालांकि राज्य सरकारों के नवीनतम आँकड़े अभी तक उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन इन आँकड़ों के बदलने की संभावना बहुत कम है।

अपने नवीनतम बजट भाषण (वर्ष 2017–18) में वित्त मंत्री ने यह नहीं बतलाया कि आखिर उन्होंने किसानों की आय दोहरीकरण की दिशा में कितनी प्रगति कर ली है। मोदी के पहले तीन वर्षों के शासन के दौरान कृषि क्षेत्र की जीडीपी में औसत वार्षिक वृद्धि मात्र 1.7 प्रतिशत ही रही है। हालांकि, उन्होंने किसानों की आमदनी "दोहरी" करने के अपने संकल्प को दोहराया, लेकिन पहले की ही तरह अस्पष्ट तौर पर बिना यह बतलाए कि खर्च बढ़ाए बगैर वह इस लक्ष्य को कैसे हासिल करेंगे। (स्थिति को और भ्रामक बनाने के लिए, एक अनाम वरिष्ठ अधिकारी ने हाल ही में "स्पष्ट किया" कि जब सरकार किसानों की आय को दोगुना करने की बात करती है तो जरूरी नहीं कि आय का मतलब कृषि से जुड़ी आय हो।[8])

इसके अलावा, 'दोगुनी' आय की कोई भी बात सभी तरह के किसानों, सीमांत और गरीब किसान, मध्यम किसान, समृद्ध किसान, ज़मीन मालिक, को एक साथ जोड़कर औसतन रूप से की जाती है। अलग–अलग तरह के किसानों की आय में होने वाली बढ़ोत्तरी अलग–अलग हो सकती है। उदाहरण के तौर पर, सर्वेक्षण के आँकड़े दर्शाते हैं कि 2002–03 से 2012–13 के दस सालों के दौरान, उन किसान परिवारों के लिए जिनके पास 0.01–0.4 हेक्टेअर ज़मीन थी, वास्तविक आय[9] में बढ़ोत्तरी मात्र 21 प्रतिशत थी (और यह इस महत्वपूर्ण तथ्य के बावजूद कि पहले साल यानी कि 2002–03 में सूखा पड़ा था व अंतिम साल 2012–13 एक सामान्य मानसून वाला साल था; यानी कि इन दोनों सालों में आने वाला आय में अंतर मुख्यत: अच्छे मौसम के कारण रहा)। वहीं उन किसान–परिवारों, जिनके पास 4–10 हेक्टेअर ज़मीन थी, यह बढ़त 47 प्रतिशत थी।

यह बात साफ है कि कृषि पर बजटीय व्यय को जीडीपी के एक समान स्तर पर बनाए रखने से व मंदी के बीच राजकोषीय घाटे को कम करके कुल मांग को कम करने से किसानों की वास्तविक आय दोगुनी नहीं होगी।

---

7 भारतीय रिज़र्व बैंक (RBI), राज्यों की वित्तीय स्थिति: बजट का अध्ययन (State Finances: A Study of Budgets), 2016.

8 संजीब मुखर्जी, "सरकार किसानों की आय को 2021–22 तक दोगुना करेगी", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Sanjeeb Mukherjee, "Govt to double income of farmers by 2021–22", Business Standard), 13/2/2017.

9 यानी कि, कृषि श्रम के लिए मिलने वाले मूल्य में हुई बढ़ोत्तरी उपभोक्ता मूल्य सूचकांक के बढ़ने के चलते दब गई।

जरूरत है ठीक इसके उलट करने की। यह बात भी कहीं ज्यादा साफ है कि 'नोटबंदी' के चलते किसानों की क्रय शक्ति कम होने व व्यापारियों की स्थिति किसानों की तुलना में और मजबूत होने से पहले से ही गरीब किसान की हालत और दयनीय हो गई है। इन प्रक्रियाओं ने 2016 में सामान्य मानसून के तहत हुए उत्पादन से होने वाली भरपाई और मुनाफ़े की गुंजाइश को भी ख़ासी क्षति पहुँचाई।

II. 2004 के बाद की आर्थिक वृद्धि के दौर की समाप्ति

गहरा संकट

2014–16 के सूखे ने भारतीय कृषि क्षेत्र में निहित अनिश्चितता को पूरी तरह उजागर कर दिया; लेकिन संकट सूखे से कहीं ज्यादा था। इस संकट की सबसे चरम व दुखदायी अभिव्यक्ति थी 1998 के बाद से तीन लाख से अधिक किसानों की आत्महत्या। लेकिन इसके अलावा कई अन्य साफ–साफ दिखाई देने व मापे जा सकने वाले सूचक भी थे: उत्पादन की बढ़ती लागत; गिरती आय; बढ़ता कर्ज; गिरता निवेश; नकली, दुर्लभ या काले बाज़ार से मिलने वाले जरूरी संसाधन; फसलों की कीमतों में भारी उतार चढ़ाव; वैकल्पिक आजीविका की कमी; अप्रत्याशित व तेजी से बदलती जलवायु परिस्थितियां; व पर्यावरण का नुकसान। इनके सामाजिक पहलू सहज रूप से दिखाई तो नहीं देते, लेकिन पूरा ढ़ांचा इन्हीं संबंधों के ताने–बाने पर खड़ा है।

भारत के कार्यबल का लगभग आधा (2011–12 में 48.9 प्रतिशत) कृषि क्षेत्र में लगा हुआ है। लेकिन फिर भी जीडीपी में इस क्षेत्र की भागीदारी मात्र 17.4 फीसदी (2014–15 में) है और जो लगातार कम होती जा रही है। कृषि क्षेत्र में काम करने वाले कामगारों (चाहे वह अपनी भूमि पर काम करने वाला किसान हो, या बंटाईदार किसान या फिर खेतीहर मजदूर) की औसत आय कार्यबल के बाकी आधे अन्य क्षेत्रों में लगे कामगारों के मुकाबले लगभग छ: गुना कम है[10]।

लेकिन व्यवस्था के अर्थशास्त्रियों पर विचारधारा का सम्मोहन इतना तगड़ा है कि जीडीपी में कृषि क्षेत्र की गिरती भागीदारी को वे कृषि के महत्व में आई कमी के सूचक के तौर पर देखते हैं। अर्थशास्त्र के कुछ पंडों ने तो यहाँ तक भी कह दिया है कि अब सूखे के चलते जीडीपी में पहले की तरह कमी नहीं आती। इन पंडों के इस तर्क को मानें तो इसके मुताबिक अगर जीडीपी में कृषि क्षेत्र की भागीदारी शून्य हो जाए, तो हम सूखे के प्रभाव से और भी मुक्त हो जाएँगे। यह तमाम सज्जन शायद यह समझने में विफल रहे हैं कि जीडीपी महज एक आँकड़ा है, आय का एक पैमाना जो वर्तमान व्यवस्था तमाम तरह की आर्थिक गतिविधियों के लिए निर्धारित करती है, उनकी सामाजिक उपयोगिता या अनुपयोगिता को ध्यान में रखे बिना; जबकि भोजन एक भौतिक वस्तु है, एक ऐसी इंसानी जरूरत जिसके लिए कोई विकल्प अभी तक नहीं पाया जा सका है।

उनके इस नज़रिए को देखते हुए, यह स्वाभाविक ही है कि व्यवस्था के अर्थशास्त्री व कॉर्पोरेट मीडिया लगातार संकेत देते रहते हैं कि किसानों को बचाने का एकमात्र तरीका यह है कि अन्य क्षेत्रों में तेजी से वृद्धि हो, जिससे कि कृषि क्षेत्र में लगे गैर–जरूरी अतिरिक्त कामगार इन अन्य क्षेत्रों में लगकर ज्यादा आय कमा सकें। फिर इस महान कार्य के नाम पर केंद्र व राज्य सरकारें विदेशी व देशी निगमों को लुभाने में लग जाती हैं, अकसर ही इन निगमों को उन किसानों की ही जमीनें तोहफे में देकर जिन्हें वे बचाने के लिए बुलाए गए हैं। इस बात का अंदाजा

10 आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2012–13, पृष्ठ 32

लगाना मुश्किल नहीं कि अकसर ही इस लेन–देन में अकृतज्ञ किसानों पर बल प्रयोग किया जाता है, जिसका नतीजा होता है अनचाहा प्रचार। ऐसे में क्या यह बेहतर ना होगा कि पहले *खेती–किसानी को एक ऐसा घाटे का रोजगार बना दिया जाए,* जिससे किसान स्वेच्छा से ही इसे छोड़ दें। उन लोगों के लिए जो इस नज़रिए से चीजों को देखते हैं, खेती में सार्वजनिक निवेश ना केवल पैसे की बर्बादी है बल्कि विकास में एक बाधा है। उनके लिए खेती में सार्वजनिक निवेश करना कुछ वैसी ही बात हुई कि एक ऐसी इमारत की मरम्मत में पैसे लगाए जाएँ जिसे असल में आप गिरा देना चाहते हैं।

2004 के बाद सार्वजनिक व्यय में बढ़ोत्तरी व बेहतर कृषि विकास का एक दौर

इसके बावजूद, समय–समय पर चुनावी बाध्यताओं के चलते, किसानों का पूरी तरह से कंगाल होना अभी तक रूका हुआ है। एनडीए सरकार से नाराज़गी के चलते ग्रामीण क्षेत्रों से मिले भारी समर्थन के कारण सत्ता में आई कांग्रेस के नेतृत्व वाली यूपीए सरकार ने पांच साल के अपने पहले कार्यकाल में ऐसे कई कदम उठाए जिससे कि उनका भी अंजाम पहले वाली सरकार जैसा ना हो।

इन कदमों में मुख्य थे, तीन सालों में ग्रामीण क्षेत्रों में दिए जाने वाले कर्जों का दोगुना करना, खरीद मूल्यों में तेजी से वृद्धि, ग्रामीण रोजगार योजना, ग्रामीण सड़कों का विस्तार, सार्वजनिक क्षेत्र के कृषि पहलू व कृषि अनुसंधान का आंशिक पुनरुद्धार, राष्ट्रीय उद्यान मिशन, और वर्षा–सिंचित खेती की उत्पादकता में सुधार लाने के उद्देश्य से जुड़ी सरकारी योजनाएं। 2003–04 से 2007–08 के बीच वास्तविक अर्थ में कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश दोगुना हो गया[11]। यूपीए सरकार ने ग्रामीण बुनियादी ढांचे (सिंचाई, विद्युतीकरण, सड़क, जल आपूर्ति, आवास और दूरसंचार कनेक्टिविटी) में सुधार लाने के लिए भारत निर्माण परियोजना शुरू की। अंत में, 2008–09 में इस सरकार ने बड़े पैमाने पर कृषि ऋण माफ़ कर दिए। साफ तौर पर, इन सभी उपायों का कुछ सकारात्मक प्रभाव पड़ा, खासकर भाजपा की अगुवाई वाली एनडीए सरकार की तुलना में जिसके तहत ग्रामीण निवेश व ऋण का एक अकाल सा था[12]। यूपीए ने 2009 में लगातार दूसरा चुनावी कार्यकाल जीता।

---

11 2004–05 के दामों के आधार पर, कृषि में सार्वजनिक व्यय 2003–04 में 12,684 करोड़ रुपयों से बढ़कर 2007–08 में 23,252 करोड़ हो गया।

12 बी. के. देवकर, एस.एल.शेट्टी, "भारतीय कृषि का विकास: 2004–05 से हुई नीतिगत पहलों का नतीजा", एकनॉमिक एंड पालिटिकल वीकली (B.K.Deokar, S.L.Shetty, "Growth in Indian Agriculture: Responding to Policy Initiatives Since 2004–05", Economic and Political Weekly) 28/6/2014. हालांकि, इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि कृषि के नाम पर दिया गया ज्यादातर ऋण सीधे किसानों तक पहुंचा ही नहीं। वर्ष 2000 के दशक में बढ़े हुए कृषि ऋण का लगभग एक–चौथाई हिस्सा परोक्ष (indirect) था, जैसे कि कृषि संसाधनों व मशीनों के डीलर्स और कॉर्पोरेट एग्रीबिजनेस में लगी कंपनियों को दिए कर्ज के रूप में। यहाँ तक कि प्रत्यक्ष रूप से दिए गए कर्ज में भी, किसानों का हिस्सा 2000 में 80% से घटकर 2011 तक 50% ही रह गया, बाकी कॉर्पोरेट एग्रीबिजनेस कंपनियों जैसों

अगर कमकर के आँकें तब भी 2004 के बाद हुए बेहतर कृषि विकास व लाभ के पीछे उस समय की वैश्विक आर्थिक स्थिति भी लगभग उतनी ही जिम्मेदार थी। वैश्विक आर्थिक उछाल का कारण था अमरीकी सेंट्रल बैंक की सस्ती ऋण नीतियाँ। नकदी की इस बाढ़ में मांग में बढ़ोत्तरी हुई और चीन व भारत समेत कई देशों की विकास दर में तेजी आई। नतीजतन, भारत समेत दुनिया भर में कृषि उत्पादों की कीमतों में उछाल आया। विकास दर में तेजी का प्रभाव निर्माण उद्योग पर भी पड़ा और उसमें लगने वाले श्रम की मांग भी बढ़ गई।

चार्ट 2: जीडीपी के प्रतिशत के रूप में कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश को दर्शाता हुआ चार्ट

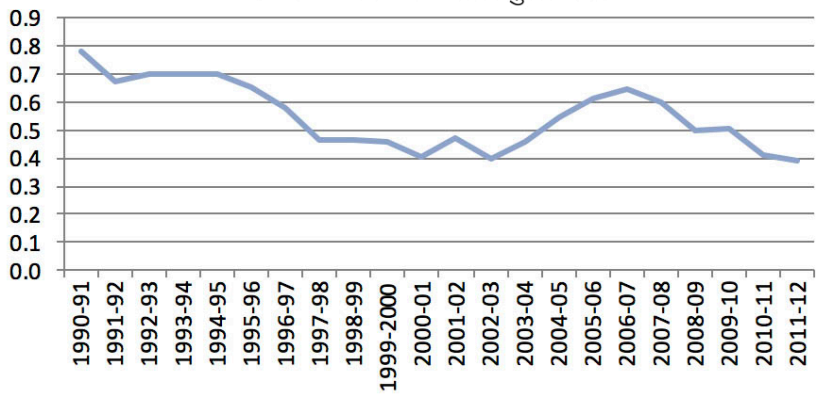

इन दो कारकों, कृषि से संबंधित सरकारी नीतियाँ व आर्थिक उछाल, के परिणामस्वरूप कृषि जीडीपी की विकास दर में बढ़ोत्तरी हुई, और साथ ही किसानों की आय व ग्रामीण मजदूरी में भी। किसानों के पक्ष में व्यापार की शर्तों को दर्शाने वाला सूचकांक वर्ष 2004–05 में 88 से बढ़कर 2010–11 में 103 तक पहुंच गया[13]। किसानों की आत्महत्याओं के आधिकारिक आँकड़ों में भी गिरावट देखी गई[14]।

के पास गया। जिसके चलते 10 करोड़ से ज्यादा के कर्जों में भारी उछाल आया। 2011 आते आते कृषि ऋण का एक–तिहाई शहरी या महानगरीय बैंक शाखाओं से दिया जा रहा था। इन सब कारणों के मद्देनज़र, कृषि ऋण में विस्तार प्रभावशाली नहीं लगता। – आर. रामकुमार एवं पल्लवी चव्हाण, "2000 के दशक में भारतीय कृषि को बैंक–ऋण", रिव्यू ऑफ ऐग्रेरियन स्टडीज (R. Ramakumar and Pallavi Chavan, "Bank Credit to Agriculture in India in the 2000s: Dissecting the Revival", Review of Agrarian Studies), 2014.

13 यह सूचकांक दर्शाता है कि समय के साथ किसानों को अपनी लागत की तुलना में कितना लाभ मिल रहा है।

14 रमेश चन्द, राका सक्सेना, सिम्मी राणा, "भारतीय कृषि आय का अनुमान एवं विश्लेषण, 1983–84 से 2011–12", ई.पी.डब्लू. (Ramesh Chand, Raka Saxena, Simmi Rana, "Estimates and Analysis of Farm Income in India, 1983–84 to 2011–12", E.P.W.), 30/5/2015.

चार्ट 3: 2004–05 से 2013–14 के बीच कृषि व्यापार शर्तों को दर्शाता सूचकांक

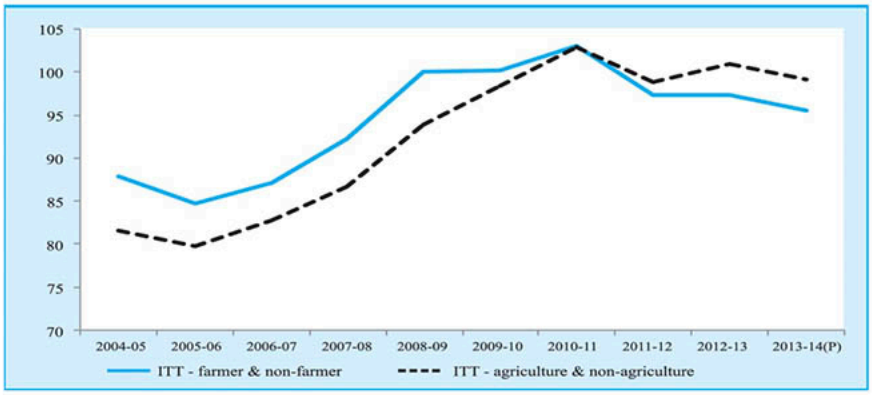

Source: *Economic Survey 2014-15*, p. 19.

2008 के वैश्विक आर्थिक दुर्घटना का असर भारतीय आर्थिक परिदृश्य पर भी पड़ा; लेकिन भारतीय सरकार ने तुरंत ही प्रतिक्रिया स्वरूप कॉर्पोरेट सेक्टर की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए अपने खुद के व्यय को बढ़ावा दिया, व्यापार में कर छूट प्रदान की, दो सालों तक ब्याज दरों को कम करके रखा, व सार्वजनिक बैंकों पर निजी इन्फ्रास्ट्रक्चर फर्मों को विशाल राशि कर्ज स्वरूप देने का दबाव बनाया। आने वाले चुनावों को ध्यान में रखते हुए, सरकार ने कृषि ऋण भी माफ़ कर दिए व मनरेगा को पूरे देश में लागू कर दिया। इन सभी प्रयासों का कुल परिणाम यह हुआ कि इनके चलते गिरती हुई मांग व विकास दर में सुधार आया; नतीजतन, कृषि उत्पादों की मांग में भी सुधार हुआ।

मंदी का दौर

लेकिन फिर भी, तेजी से विकास (2004 के बाद) के उस दौर में भी कृषि क्षेत्र संकट की स्थिति से उबरने के करीब तक नहीं पहुंचा था। यहाँ यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि बढ़ोत्तरी के बावजूद कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश 1990 के दशक के शुरुआती स्तर तक नहीं पहुंचा (देखें चार्ट 2); और शुरुआती कुछ सालों की बढ़ोत्तरी के बाद वापस गिरने लगा। जहाँ तक सवाल है सकल मांग का, तो सरकार ने 2009–11 के दौरान संपूर्ण अर्थव्यवस्था को उबारने के लिए जो कदम उठाए उनसे तब तक ही लाभ मिला जब तक सरकार ने अपना विस्तारवादी रुख कायम रखा; एक दफे जब सरकार ने राजकोषीय घाटे में कटौती करने की अपनी नीतियों को आगे बढ़ाया व रिजर्व बैंक ने ब्याज दरों को बढ़ा दिया तो विकास की दर फिर धीमी पड़ गई। फौरन ही इसका असर किसानों की आय पर भी दिखने लगा।

इसके अलावा, 2012–13 के बाद से कृषि उत्पादों की वैश्विक कीमतों में गिरावट आई (चार्ट 4); भारतीय कृषि के वैश्वीकरण (ग्लोबलाईजेशन) के कारण, भारतीय कृषि उत्पादों की कीमतों पर इसका तत्काल असर पड़ा। (इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि किसान व व्यापारी के बीच के व्यापार संबंधों में व्यापारियों की स्थिति मजबूत रहती है, जिसके कारण दाम गिरने के चलते इन दो पक्षों पर पड़ने वाले प्रभावों में भी अंतर होता

है: ऐसे में जहाँ कृषि उत्पादों की कीमतों में *वृद्धि* पूरी तरह से किसानों को हस्तांतरित नहीं होती, वहीं कीमतों में *गिरावट* का पूरा असर तत्काल स्थानांतरित हो जाता है।)

चार्ट 4: खाद्य वस्तुओं की वैश्विक कीमतें दर्शाता विश्व बैंक सूचकांक (2010 = 100)

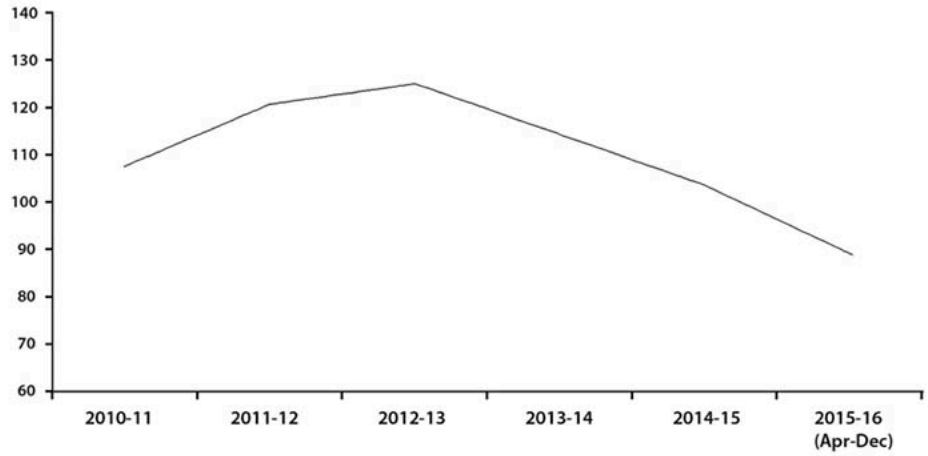

Source: *Economic Survey 2015-16*, vol. 2, p. 97.

कृषि व संबंद्धित क्षेत्रों में होने वाला निवेश (सार्वजनिक + निजी), इन क्षेत्रों में होने वाली आय के अनुपात के रूप में घटने लगा। यह 2011–12 में 18.3 प्रतिशत से घटकर 2014–15 में 15.8 प्रतिशत हो गया। किसानों और गैर–किसानों व कृषि और गैर–कृषि[15] के बीच व्यापार की शर्तें 2011–12 से बिगड़नी शुरू हो गईं। कुल मिलाकर इसका मतलब यह हुआ कि किसानों के लिए एक तरफ कुआं तो दूसरी तरफ खाई: जहाँ एक ओर वे कृषि की बढ़ती हुई लागत से जूझ रहे थे तो दूसरी ओर उनके उत्पादों का बाज़ार भाव या तो गिर रहा था या फिर स्थिर था। ध्यान रहे कि लगभग 60 प्रतिशत कृषि उत्पादन तो किसानों द्वारा अपने उपभोग के लिए रख लिया जाता है, पर लागत जितनी तेज़ी से बढ़ रही थी क़ीमतें उससे कहीं पीछे थीं, जिसके चलते निर्वाह कृषि (subsistence agriculture) पर भी दबाव बढ़ा। ग्रामीण मजदूरी में कई कारणों के चलते कमी आई, जैसे – कृषि से जुड़े कामों में गिरावट, निर्माण उद्योग में मंदी व सरकार के द्वारा मनरेगा को आर्थिक सहायता ना देना।

15 पहली माप ('किसान और ग़ैर–किसान'), किसानों द्वारा की गई मज़दूरी (कृषि में) को शामिल नहीं करती है (वास्तव में यह श्रम किसान ख़रीदते हैं); दूसरी माप ('कृषि और गैर–कृषि') में कृषि में यह मज़दूरी शामिल है।

चार्ट 5: नवंबर 2005 से नवंबर 2014 के दौरान सांकेतिक ग्रामीण वेतन वृद्धि को दर्शाता एक चार्ट

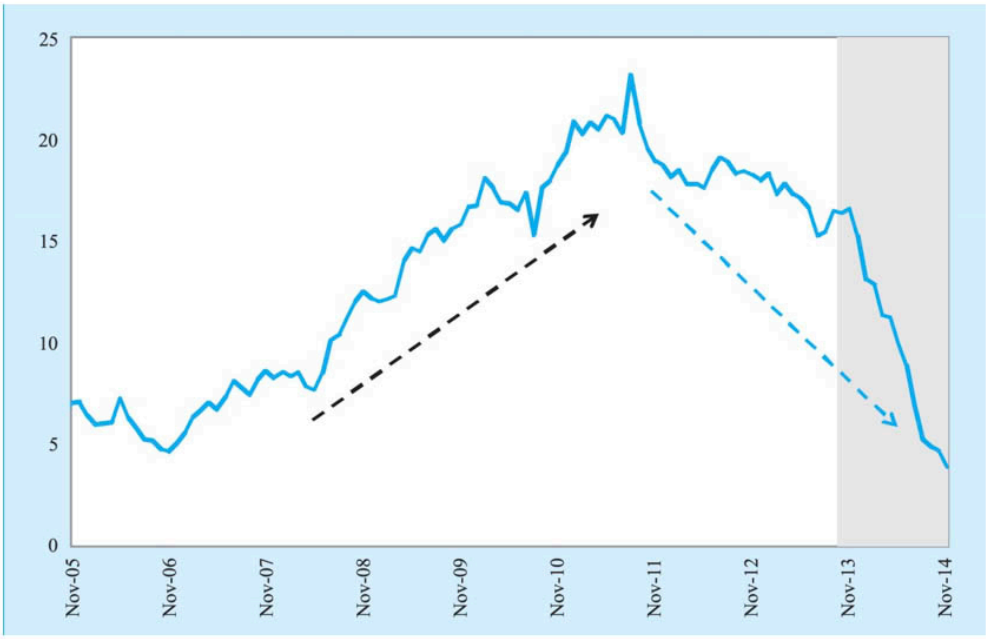

Source: *Economic Survey 2014-15*, from Labour Bureau data.

2011 के अंत से ग्रामीण मजदूरी की वृद्धि दर तेजी से घटने लगी, और 2014 के अंत तक वास्तविक मायनों में (यानी कि मुद्रास्फीति को ध्यान में रखते हुए) नकारात्मक हो गई।

कुल मांग में आई मंदी व किसान आय

उपरोक्त संदर्भ में, कृषि के लिए आवंटन में कुछ मदों में बढ़ोत्तरी के आधार पर 'किसान–समर्थक' बजट की चर्चा अर्थहीन है। *खाद्य वस्तुओं की मांग* (व नतीजतन उनके दाम) के रूप में अर्थव्यवस्था में सकल मांग की स्थिति किसानों को प्रभावित करती है। पिछले दो सालों में जबकि राष्ट्रीय और वैश्विक अर्थव्यवस्था मंदी के दौर से गुजर रही हैं, कई खाद्य वस्तुओं की कीमतें या तो स्थिर हैं या फिर गिर गई हैं, नतीजतन किसानों की जेबें सिकुड़ गई हैं। (असल में, आत्महत्या की घटनाओं ने उन अन्य फसलों से जुड़े किसानों के घरों में भी दस्तक दे दी है जो पहले इससे अछूते थे, उदाहरण के तौर पर आलू।) दूसरी तरफ, एक 'किसान' परिवार की एक तिहाई आमदनी मजदूरी करके आती है[16], छोटी व मझली जोत वाले किसानों के लिए यह हिस्सा और भी ज्यादा है। इसीलिए, भवन–निर्माण उद्योग, मैन्युफ़ैक्चरिंग, व कृषि में मंदी के चलते असल मजदूरी में होने वाली कमी किसानों को प्रभावित करती हैं।

इसलिए एक *ऐसा बजट जो पहले से ही मंदी से गुजर रही अर्थव्यवस्था में मांग को कम करता हो, किसानों को नुकसान पहुंचाता है*, फिर चाहे उस बजट को कृषि के लिए कुछ अतिरिक्त आवंटन देकर सजाया–संवारा ही क्यों ना गया हो। अर्थव्यवस्था के मुख्य आर्थिक सलाहकार की छमाही समीक्षा (दिसंबर 2015) से पता चला

16 राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, राउंड 70, 2012–13.

कि वर्तमान परिस्थितियों में राजकोषीय घाटे को कम करने की सरकारी नीतियों के चलते मांग में कमी आई थी व मंदी और भी बढ़ी थी। उसमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "जितनी मात्रा में सरकार राजकोषीय घाटे में कटौती की उम्मीद कर रही है ... वह इस नाजुक अर्थव्यवस्था को और कमजोर कर सकती है। "

लेकिन इसके बावजूद सरकार ने ना केवल 2015–16 में राजकोषीय घाटे में कटौती के लिए कदम उठाए, बल्कि विदेशी सट्टा निवेशकों और उनके क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों के प्रभाव में 2016–17 में इसे *और भी कम* करने की योजना पर कायम रही। इसमें कोई शक नहीं कि घरेलू मांग–दमन की यह नीति विदेशी सट्टा निवेशकों को आश्वस्त करती है, क्यूंकि मांग बढ़ने की स्थिति में मुद्रास्फीति के खतरे से वह अपने रुपए के मूल्य को बचाए रखना चाहते हैं (साफ है कि अगर मांग बढ़ेगी तो रूपए के मूल्य में कमी आएगी)। इसके अलावा, एक मंद अर्थव्यवस्था में औनी–पौनी कीमतों पर संपत्ति जुटाने के लिए भी वे उत्सुक रहते हैं। लेकिन, मांग–दमन की इस नीति ने पहले से ही किसानों की आय कम कर दी है, व और भी कम करती जाएगी।

इस नीति का असर नोटबंदी से पहले ही दिखने लगा था। अक्टूबर 2016 की शुरूआत में यह खबर आई कि नाशिक बाजार में प्याज की कीमत गिरकर 4 रुपए प्रति किलो व उससे भी कम हो गई है[17]। मूंग दाल का कारोबार आधिकारिक न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) से 15 प्रतिशत कम पर हो रहा था[18]; सोयाबीन का एमएसपी से 20–35 प्रतिशत नीचे[19]; मूंगफली का एमएसपी से 35 प्रतिशत नीचे[20]; व कच्चे कपास का एमएसपी से 4–16 प्रतिशत नीचे[21]। साफ है कि स्थिति पहले से ही गंभीर थी।

उसके बाद, 8 नवंबर को सरकार ने हजार व पांच सौ के चालू नोटों को बंद कर दिया। लगभग 86 प्रतिशत चालू मुद्रा रद्दी कागज में बदल गई। खरीफ की फसल बेचने के लिए तैयार किसानों के लिए यह एक नया व जबर्दस्त झटका था। नकदी की कमी का फायदा उठाते हुए, व्यापारियों ने उत्पादन की लागत से कम में आलू,

17 अमिति सेन, "किसानों के लिए खरीद में कोई राहत नहीं", हिंदू, (Amiti Sen, "No procurement relief for farmers", Hindu), 1/10/16; दिलीप कुमार झा, "प्याज की कीमतें गिरने से किसान आक्रोश में", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Dilip Kumar Jha, "Onion price collapse makes farmers see red", Business Standard), 3/10/2016.

18 दिलीप कुमार झा, "मूँग के दाम न्यूनतम ख़रीद मूल्य से नीचे, सरकार द्वारा ख़रीद के बावजूद", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Dilip Kumar Jha, "Moong falls below MSP despite Govt buying", Business Standard), 4/10/2016.

19 भाविका जैन, "बारिश के बाद सोया किसानों की बहुत नीचे गिरे भाव से जंग", टाइम्स ऑफ इंडिया (Bhavika Jain, "After rains, soya farmers battle rock–bottom price", Times of India), 27/10/2016.

20 रुतम वोरा, "मूँगफली के दाम न्यूनतम ख़रीद मूल्य के नीचे गिरने से गुजरात में किसान परेशान", हिंदू बिज़नेस लाइन (Rutam Vora, "As groundnut drops below MSP, farmers in Gujarat turn jittery", Hindu Business Line), 27/10/2016.

21 विमुक्त दावे एवं संजीब मुखर्जी, "केंद्र द्वारा न्यूनतम ख़रीद मूल्य पर सोया की ख़रीद शुरू", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Vimukt Dave and Sanjeeb Mukherjee, "Centre starts procuring soya at MSP", Business Standard), 27/10/2016.

टमाटर, प्याज, मटर व अन्य सब्जियों को खरीदा[22]। किसानों द्वारा दालों को सरकारी न्यूनतम समर्थन कीमतों के नीचे बेचने का घाटे का सौदा जारी रहा[23]। दिसंबर में मुर्गी पालकों की बिक्री कीमतों में 40–50 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई[24]। दो सालों के कुदरती सूखे के बाद अब *मांग* के अकाल की बारी थी।

इसके बावजूद, विभिन्न सरकारी नीतियों के चलते पहले से ही कमजोर मांग और भी कम होती जा रही है। पहली बात तो यह, कि ऐसा लगता है कि नोटबंदी के पहले प्रचलित सारी मुद्रा वापिस नहीं लाई जाएगी (ताकि लोग कैशलेस तरीके अपनाने के लिए मजबूर हों)। दूसरी, 2017–18 का केंद्रीय बजट राजकोष के घाटे में और कमी करने की बात करता है। तीसरा, विदेशी निवेश के देश से बाहर चले जाने का खतरा बताकर रिजर्व बैंक ब्याज दरों को कम करने के लिए तैयार नहीं है। ऐसे में 2011 से चल रहा आर्थिक मंदी/स्थिरता का दौर जारी रहने की गुंजाइश है। नतीजतन कृषि आय में कमी बनी रहेगी।

ब्रिटिश राज के नक्शेकदम पर

अगर इतिहास में झांकें तो इस मांग–दमन की नीति का एक और उदाहरण मिलता है; 1930 के दशक में महामंदी के दौरान। उस समय भी, आज ही की तरह, हिंदुस्तान दुनिया भर में बुनियादी वस्तुओं की गिरती

22 सम्पादकीय, "बहुतायत की समस्याएँ", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Editorial, "Problems of plenty", Business Standard, 22/2/2017); प्रभु मल्लिकार्जुन, "बहुत सारी सब्ज़ियाँ, बहुत कम दाम: नोटेबंदी के बाद भाव गिरे", इंडियासपेंड (Prabhu Mallikarjunan, "Too many vegetables, too little money: Prices crash post–notebandi", Indiaspend), 18/1/2017; विकास वासुदेव, "नक़दी की कमी से यह किसान बहाल", हिंदू (Vikas Vasudeva, "Cash crunch proves a hot potato for these farmers", Hindu), 22/12/2016, एवं "पंजाब में सब्ज़ियाँ बेस्वाद", हिंदू ("Vegetables lose flavour in Punjab", Hindu), 27/12/2016; नम्रता आचार्य, "भारी उपज पर प्याज़ के दाम 40 प्रतिशत गिरे", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Namrata Acharya, "Onion prices crash 40 per cent on bumper production", Business Standard), 28/2/2016; ज़ीशन शेख़, "नासिक: किसानों को टमाटर पर मिल रहे 1 रुपए प्रति किलो", इंडियन एक्सप्रेस (Zeeshan Shaikh, "Nashik: Farmers getting Re 1/kg for tomatoes", Indian Express), 12/12/2016. और देखें, श्रेया शाह, "फूलों की फ़सल पर आमदनी 70 प्रतिशत गिरी, एक साल गया: किसानों की कहानी", इंडियास्पेंड (Shreya Shah, "Flower Harvest Income Falls 70 per cent; Year Lost: A Farmer's Story", IndiaSpend), 17/12/2016, एवं सोहिणी दास, "नक़दी की कमी से जाड़ों में दूध की ख़रीद कम हुई", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Sohini Das, "Cash crunch slows down milk procurement in winter months", Business Standard), 8/1/2017.

23 विश्वनाथ कुलकर्णी, "भाव गिरने पर तूर–दाल के किसानों की केंद्र से मदद की गुहार", हिंदू बिज़नेस लाइन (Vishwanath Kulkarni, "As prices head south, tur dal farmers seek Centre's support", Hindu Business Line), 7/12/16; सी. एस. सी. शेखर, "दाल–खेती एक संकट की ओर", बिज़नेस स्टैंडर्ड (C.S.C. Sekhar, "Pulses sector heading for a crisis", Business Standard).

24 दिलीप कुमार झा, "नोटबंदी: मुर्ग़ियों के भाव कमज़ोर मांग के चलते गिरे", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Dilip Kumar Jha, "Demonetisation: Poultry prices drop on weak consumer demand", Business Standard), 6/12/16.

कीमतों से जूझ रहा था। 1929 में महामंदी के शुरू होने के अगले कुछ सालों में ही भारत में कृषि उत्पादों की कीमतें आधी हो गईं।

उत्पादों की कीमतों का गिरना अंग्रेजों व उनके हितों की रक्षा में लगे भारतीय शोषक वर्ग के लिए एक अजीब सी समस्या लेकर आया। मंदी से पहले, अंग्रेज नीचे दिए इन तमाम तरीकों से भारत से अपना औपनिवेशिक शुल्क निकाला करते थे: (i) भारतीय अर्थव्यवस्था कुछ इस तरह बनाई गई थी कि वह आयात की तुलना में निर्यात ज्यादा करे। (ऐसा करने के लिए अंग्रेजों ने कई सालों के दौरान भारत को वाणिज्यिक फसलें उगाने के लिए मजबूर किया – पहले नील व अफीम, व बाद में कपास, जूट, चाय और यहाँ तक कि गेहूं भी निर्यात किया जाता था।) (ii) लेकिन, इस 'अधिक निर्यात–कम आयात' वाली व्यापार नीति से भारत में समृद्धि नहीं आई, क्यूंकि ब्रिटेन ने भारतीय लोगों पर कई प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर लगा रखे थे। इसके अलावा भारत पर होम–शुल्क भी लगता था, जो कुल मिलाकर भारत के लोगों के द्वारा अपने ऊपर 'सुशासन' करने के एवज में ब्रिटेन को किया जाने वाला भुगतान था[25]।

अंग्रेजों ने भारत से ब्रिटिश निवेश पर मुनाफे सरीखे कई 'अदृश्य' भुगतान भी निकाले। (iii) इन सारे भुगतानों ने भारत में व्यापार से होने वाले अधिकतर लाभ को हजम कर लिया। (वह वित्तीय व्यवस्था जिसके चलते यह सब संभव हो पाया थोड़ा और अधिक जटिल थी, लेकिन उस पर बात करना यहाँ जरूरी नहीं है।)

लेकिन जब 1929 के बाद दुनिया भर में कृषि उत्पादों की कीमतों में गिरावट आई तो भारत का व्यापार मुनाफा भी गायब हो गया। भारतीय निर्यात का मूल्य 1928–29 में 339 करोड़ रुपए से घटकर 1932–33 में 136 करोड़ रुपए हो गया; वहीं इसी दौरान आयात 263 करोड़ रुपए से घटकर 135 करोड़ रुपए रह गया[26]। अब ऐसे हालातों में ब्रिटेन किस तरह भारत को पहले की ही तरह चूस सकता था? एक अन्य समस्या (या यह कहें कि वही समस्या एक दूसरे रूप में) थी: क्यूंकि फसलों की कीमतें आधी हो चुकी थीं, तो औपनिवेशिक प्रशासन कैसे अपना लगान, जमींदार कैसे अपनी जमीन का किराया व साहूकार कैसे अपना ब्याज निकालें? क्यूंकि यह सब राशियां फसलों की कीमतें गिरने के बावजूद जस–की–तस बनी हुई थीं। किसानों के सिर पर हमेशा भारी बोझ की तरह लदे यह तमाम टैक्स अब असहनीय हो गए। (दूसरी ओर, भारतीय साहूकारों व व्यापारियों की चिंताओं को जी डी बिड़ला ने शिकायत के लहजे में कुछ इस तरह से दर्शाया "साहूकारों को सूद तो क्या उनका अपना असल भी नहीं मिल पाया"।)[27]

---

25 होम शुल्क के अंतर्गत बिर्टिश प्रशासन व सेना पर होने वाला खर्च, सरकारी ऋण पर लगने वाला ब्याज व रेल्वे में पैसा लगाने वाले निजी ब्रिटिश निवेशकों का सुनिश्चित लाभ आता था।

26 एल. नारायण, भारत में क़ीमतों में उतार–चढ़ाव (1929–57), (L. Narain, Price Movements in India (1929–57)), 1957.

27 क्लोड मरकोवित्स, भारतीय बिज़नेस एवं राष्ट्रवादी राजनीति 1931–39 (Claude Markovits, Indian Business and Nationalist Politics 1931–39), 1985, पृष्ठ 43.

इन दोनों ही समस्याओं का हल था किसानों को उनकी *जमा–पूंजी व संपत्ति* से अलग कर देना। अपनी जमीन के अलावा, जिस पर जब तक बन पड़ा वे डटे रहे, किसानों के पास संपत्ति स्वरूप थे सोने व चांदी के आभूषण। परंपरागत रूप से बचत करने का तरीका। किसानों को मजबूर किया गया कि वे अपने इन आभूषणों को बेचकर लगान, किराया व कर्ज चुकाएं। पीढ़ियों से उनकी अल्प संचित बचत को भारतीय साहूकारों व व्यापारियों के मार्फत इकट्ठा कर ब्रिटेन भिजवा दिया गया। इस प्रक्रिया में साहूकारों व व्यापारियों ने अच्छा–खासा मुनाफा भी कमाया। इस तरह, *माल* का निर्यात जहाँ एक ओर मुनाफे में कमी के चलते होम–शुल्क (Home Charges) पैदा करने में असमर्थ साबित हुआ, तो दूसरी तरफ *सोने* के निर्यात ने यह काम कर दिखाया। जहाँ 1928–29 में भारत में सोने का शुद्ध आयात 21 करोड़ रूपए था, तो 1932–33 में भारत से कुल 65 करोड़ रुपए का सोना निर्यात हुआ[28]। 1932 से 1936 के बीच में अंग्रेजों के स्वर्ण रिज़र्व में 162 प्रतिशत का इजाफा हुआ[29]।

जिस समय भारत में लोगों की आय में भारी गिरावट आ रही थी, औपनिवेशिक शासकों ने लोगों की आय सिकोड़ने और मुद्रा को मजबूत बनाए रखने की एक क्रूर नीति अपनाए रखी थी[30]। आज ही की तरह उस समय के औपनिवेशिक शासकों ने भी खर्च–कटौती की अपनी नीति को जारी रखा; बस आज के समय और उन दिनों में अंतर यह है कि आज मांग दबाए रखने को "वित्तीय समझदारी" के जुमले से सही बतलाया जा रहा है तो उस समय "एक मजबूत वित्त के सिद्धांत" से। 1931–32 के लिए बजट पेश करते हुए भारत सरकार के वित्त सदस्य सर जॉर्ज शुस्टर ने कहा था:

> फिलहाल समय ऐसा नही है कि डर की नीति अपनाई जाए या हताशा में कुछ ऐसे फैसले लिए जाएँ जो कि हमें अनजानी कठिनाइयों में ढ़केल दें या जिससे सरकारी तंत्र की क्षमता ही खतरे में पड़ जाए। असल में जरूरत है मजबूत वित्त के सिद्धांत पर अडिग रहते हुए एक साथ मिलकर समझदारी के साथ मेहनत करते हुए विवरणों पर गंभीरता से ध्यान देने की। आखिरकार, सबसे जरूरी है अपने वित्तीय मामलों में मजबूत होना[31]।

रघुराम राजन के भाषणों में इन शब्दों की गूंज आसानी से मिल जाएगी।

औपनिवेशिक शासकों की मांग–दमन की नीतियों ने आंतरिक रूप से रुपए के मूल्य को उछाले रखा; नतीजतन वाकई में भारत में वस्तुओं का थोक मूल्य सूचकांक ब्रिटेन या अमेरिका की तुलना में काफी तेजी से गिरा[32]। इसके अलावा, जहाँ एक ओर दुनिया की अन्य प्रमुख अर्थव्यवस्थाएं अपने आप को आयात से होने वाले खतरे

---

28 नारायण, ऊपर दिए गए संदर्भ से।

29 आर. पालमे दत्ता, इंडिया टुडे, (R. Palme Dutt, India Today), 1947, पृष्ठ 133.

30 महानगरीय देशों की सरकारें अपना व्यय बढ़ाकर व मुद्रा का अवमूल्यन करके मांग बढ़ाने की कोशिश कर रही थीं; लेकिन, औपनिवेशिक भारत इन रास्तों को अपनाने के लिए स्वतंत्र नही था।

31 ए के बाग़ची , भारत में निजी निवेश 1900–1939 (A. K. Bagchi, Private Investment in India 1900–1939), 1972, पृष्ठ 46.

32 मारकोवित्स, ऊपर दिए गए संदर्भ से, पृष्ठ 42.

से बचाने के लिए अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर रही थीं, भारत के औपनिवेशिक हुकमरानों ने भारतीय रुपए को अंग्रेजी मुद्रा से कृत्रिम रूप से काफी ऊंची दरों पर जोड़े रखा था[33]। भारत में घटती मंहगाई व मजबूत रुपए ने विदेशी निवेशकों को आश्वस्त किया कि भारत की औपनिवेशिक सरकार अपने कर्ज की भरपाई कर पाएगी[34]।

मगर इसने प्रभावी रूप से भारतीय लोगों पर लदे बोझ को बढ़ा दिया, विशेष रूप से किसानों पर। यह बात सुनने में बहुत अच्छी लगती है कि वस्तुओं के दाम घट रहे हैं, लेकिन अगर सकल मांग को दबाकर दाम कम किए जाते हैं तो असल में इसके मायने होते हैं कामगारों की *आय* में कमी, व संपत्ति मालिकों के खजाने में बढ़ोत्तरी। मांग के गिरने से (i) बेरोजगारी में इजाफा होता है, जिसके चलते कामगार–मजदूरों की मजदूरी में गिरावट आती है, व (ii) किसानों को उनकी उपज के लिए मिलने वाले दाम गिर जाते हैं। यह दोनों ही कारण पूंजीपतियों के *मुनाफे* में वृद्धि करते हैं, लेकिन जरूरी नहीं कि असल में उनके मुनाफे के आँकड़े बेहतर ही हों[35]। दूसरी तरफ, रूपए का मूल्य बढ़ने का सीधा मतलब हुआ कि जिनके पास भी संपत्ति है (खासतौर पर रुपयों में) उनकी स्थिति पहले की अपेक्षा बेहतर हो गई है, क्यूंकि अब वे उतने ही रुपयों में ज्यादा संसाधन जुटा सकते हैं। कुल मिलाकर देखें, तो सारा मामला आर्थिक सुधार के नाम पर एक बड़ी मात्रा में कामकाजी वर्ग के हाथों से उनकी छुट–पुट संपत्ति व जेबों से आय छीनकर पूंजी मालिकों के हवाले कर देने का है। इस पूरे मामले में भले ही सुधार हो या ना हो, हस्तांतरण निश्चित तौर पर होता है।

विदेशी वित्तीय निवेशकों और उनकी क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों के निर्देशों के तहत आज मांग दमन की वैसी ही नीति आजाद कहलाने वाले भारत की सरकार व रिजर्व बैंक के द्वारा लागू की जा रही हैं। वित्तीय समझदारी व मंहगाई को कम करने के नाम पर सरकारी खर्चे को जीडीपी के अनुपात में लगातार कम किया जा रहा है। और उधर वैश्विक व भारतीय मंदी के बावजूद रिजर्व बैंक ब्याज दरों के स्तर को ऊंचा बनाए रखे हुए है (भले ही भारत की आधिकारिक सांख्यिकीय मशीनरी के दावे जो भी हों)।

---

33 भारतीय रुपए की विनमीय दर 1 शिलिंग (shilling) 6 पेन्स (pence) तय की गई थी, लेकिन भारतीय कारखानेदार इस दर को घटाकर 1 शिलिंग 4 पेन्स चाहते थे। अपने आप को बाहरी उत्पादों से बचाने के लिए उनकी जरूरत एक कमजोर रुपया था। (शिलिंग एवं पेन्स उस समय चलने वाली ब्रिटिश मुद्रा हैं)।

34 बाग़ची, ऊपर दिए गए संदर्भ से, पृष्ठ 65–66.

35 उदाहरण के तौर पर अगर हम एक पूंजीपति को लें जिसके कारखाने में बनने वाली किसी वस्तु की बाजार में कीमत 10 रुपए है। ऐसी हर एक वस्तु को कारखाने में बनवाने में उसे 5 रुपए मजदूरी व 3 रुपए कच्चे माल पर खर्च करने पड़ते हैं। इस सामान को जब पूंजीपति बाजार में बेचता है तो उसे प्रति सामान 2 रुपए का मुनाफा होता है। अब मान लेते हैं कि सकल मांग में कमी के चलते मजदूरी घटकर 3 रुपए और कच्चे माल की कीमत 1 रुपए प्रति वस्तु ही रह जाती है। जाहिर है मांग में कमी के चलते इस वस्तु की मांग में भी कमी आएगी, जिसके चलते मान लेते हैं कि वस्तु की बाजार में कीमत 7 रुपए ही मिलती है। इस स्थिति में पूंजीपति को प्रति वस्तु होने वाला मुनाफा 3 रुपए का होगा, जोकि मांग में कमी आने से पहले वाली स्थिति से ज्यादा है। लेकिन अगर मांग में कमी आने से पहले पूंजीपति 100 वस्तुएं बेचता था और मांग में कमी के चलते अब मात्र 50, तो पूंजीपति को होने वाला कुल मुनाफा 50 रुपए कम ही होगा।

पिछले दो वर्षों में कृषि की लागत में लगातर बढ़ोत्तरी हुई है, जबकि मांग की कमी के चलते फसल की कीमतें या तो स्थिर हैं या फिर गिर गई हैं। एक समय जब सोने का देश से बाहर जाना इस कृषक संकट का द्योतक माना जाता था, वहीं आज किसानों की बढ़ती आत्महत्याएं इस संकट की गवाह हैं। इसी दौरान, मांग की कमी के चलते 2012–13 से कॉर्पोरेट क्षेत्र की बिक्री दर में गिरावट आई है, और 2014–15 के बाद से तो असल बिक्री भी गिर गई है। लेकिन इसके बावजूद, कॉर्पोरेट सेक्टर की लागत (जिसका एक हिस्सा कृषि से आता है) तेजी से गिरने व मजदूरी में कमी आने के चलते, पिछले दो वर्षों में उनका मुनाफे का *अंश* बढ़ गया है[36]।

अतीत की ही तरह, रुपए को मजबूत बनाए रखने के उद्देश्य से आज सरकार अपने खर्च में कटौती करने के साथ–साथ ब्याज दर को ऊंचा बनाए हुए है। सरकार का लक्ष्य लोगों की वास्तविक आय को बचाना नहीं है जोकि मंदी के इस दौर में सिकुड़ रही हैं। इसके उलट लक्ष्य है विदेशी निवेशकों को आश्वस्त करना कि भारत में उनके वित्तीय निवेश मुद्रास्फीति से सुरक्षित हैं, भले ही इसके चलते यहाँ की उत्पादक गतिविधियां बाधित हों या बड़े पैमाने पर आपत्ति ही क्यूं ना आए। रिजर्व बैंक के गवर्नर रघुराम राजन ने साफ तौर से कहा: "अंतर्राष्ट्रीय निवेशक आश्वस्त होना चाहता है कि आप अपनी नीतियों पर कायम रहेंगे, क्यूंकि उनकी पसंद ज्यादा मुद्रास्फीति की बनिस्पत कम मुद्रास्फीति की स्थिति है। इसलिए अस्थिरता के बावजूद हमें उन्हें आश्वस्त करना होगा कि हम ऐसा ही करेंगे।"[37] इसी लाइन पर चलते हुए, प्रधानमंत्री ने हाल ही में आईएमएफ की प्रमुख सुश्री लैगार्डे के सामने यह घोषणा की कि भारत विश्व व्यापार में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के तरीके के रूप में अपनी मुद्रा के अवमूल्यन का रास्ता नही अपनाएगा। वैश्विक पूंजी का प्रतिनिधित्व कर रही लैगार्डे के अनुमोदन के अलावा किसी अन्य बात की अपेक्षा किए बगैर उन्होंने यह आश्वासन केवल एक "अच्छा वैश्विक नागरिक" होने के चलते दिया।[38]

---

36 रिजर्व बैंक ने यह दर्ज किया है कि 2015–16 के पहले भाग में निजी क्षेत्र का मुनाफा–मार्जिन बिक्री दरों में कमी आने के बावजूद बढ़ गया। "एक लम्बे अंतराल में, 2012–13 की शुरुआत से, कुल विक्रय की वृद्धि में कमी देखी गई है ... 2015–16 की शुरुआत में खुदरा सामान के दाम में कमी और कर्मचारियों पर लागत की वृद्धि में कमी की वजह से कुल व्यय में कमी आई", भारतीय रिजर्व बैंक बुलेटिन (Over a longer horizon, since the first half of 2012–13, aggregate sales growth recorded a declining trend.... Expenditure in the first half of 2015–16 contracted due to contracting cost of raw materials and lower growth in staff costs. "Performance of Private Corporate Business Sector during First Half of 2015–16", RBI Bulletin), 02/2016.

37 "मार्केट में गिरावट मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित नहीं है, डॉक्टर राजन ने कहा, सी. एन. बी. सी., ("Market fall not backed by fundamentals, says Dr Rajan", CNBC), 20/1/2016.

38 यहाँ हमारा ध्येय भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहित करने के तरीके के तौर पर मुद्रा अवमूल्यन की वकालत करना नहीं है। बल्कि यह है कि वर्तमान शासन ने विदेशी पूंजी को देश में बुलाने के लिए कमर कस रखी है। ऐसा करने के लिए, शासकों के लिए यह जरूरी हो जाता है कि रूपए को मजबूत बनाए रखा जाए, जिसके कमजोर होने पर विदेशी निवेशक अपना पैसा देश से बाहर निकाल लेंगे। रूपए को मजबूत बनाए रखने के लिए, शासक घरेलू आय को दबाने की नीति अपनाते हैं। यही वह आश्वासन है जो मोदी व आरबीआई विदेशी पूंजी को दे रहे हैं।

जहाँ औपनिवेशिक शासकों ने किसानों के हाथों से सोना व चांदी छीन लिए, वहीं उनके वर्तमान उत्तराधिकारियों ने देश की कई अनमोल संपत्तियां पूंजीपतियों को सौंप दी हैं, अक्सर ही किसानों को उनकी अपनी जमीन से धकेल कर। आने वाले समय में भी यही होगा। महामंदी के कृषि संकट के कुछ ही सालों के दौरान 1930 और 1940 के दशकों में किसान संघर्षों में भारी उफान आया था। शायद वर्तमान संयोग भी अधिक आत्महत्याओं के बजाय एक नए कृषक आंदोलन को हवा देगा; कम से कम इसकी जरूरत से तो इंकार नहीं किया जा सकता, और हमारी उम्मीद भी यही है।

III. बेड़ियों में कैद खेती–किसानी

घाटा झेलते किसान परिवार

पिछले भाग में हमने देखा कि शुरूआती दौर में बढ़े हुए सरकारी व्यय का अच्छा नतीजा सामने आया। अब हमें भारत में कृषि के विशाल परिदृश्य के कुछ खास नकारात्मक बिन्दुओं पर भी ध्यान देने की जरूरत है जिसका स्वरूप बीच–बीच में विकास दर बढ़ने पर भी नहीं बदलता है।

यह ताज्जुब की बात है कि पिछले कुछ सालों (2004–12) में जब खेती के लिए व्यापार की शर्तें बेहतर हो रहीं थीं और विकास की दरें ऊंची थीं, तब भी ऐसा ही लगता है कि खेती में आए सुधार का किसानों के बड़े समुदाय पर सीमित असर ही हुआ। सत्तरवें दौर के नेशनल सैम्पल सर्वे (2012–13) के आँकड़े बताते हैं कि एक किसान परिवार की औसत मासिक आय (*सभी* स्रोतों से) 6,426 रूपए थी जिसमें से 2,071 रूपए मजदूरी के थे और 512 रूपए गैर–किसानी धंधों से। बाकी आय का स्रोत थे – खेती–किसानी और पाले हुए जानवर। लगभग *70% किसान परिवारों के लिए, सभी स्रोतों* (खेती–किसानी, पशुपालन, मजदूरी और अन्य गैर–किसानी धंधे) *से आई कुल आय, खपत पर होने वाले उनके व्यय* (consumption expenditure) *से कम थी* जिसका सीधा मतलब है कि यह परिवार घाटे में चल रहे थे।

दरअसल, 87% किसान परिवारों के लिए अगर सिर्फ खेत से आने वाली आय (चाहे वह खेती–किसानी से आई हो या पशुपालन से) को देखें तो वह खपत पर होने वाले व्यय से कम थी। *खेती–किसानी* से होने वाली आय (cultivation income) के संदर्भ में *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) 2015–16 के आँकड़े बताते हैं कि 17 राज्यों में सकल उत्पाद के आधार पर निकाली गई किसानों की औसत वार्षिक आय 20,000 रूपए से कम है। निस्संदेह, ज्यादातर किसानों के लिए उत्पादन की शुरूआती परिस्थितियों (Initial conditions of production) का महज पुनरुत्पादन[39] (re–creation) भी खतरे में है। (यहाँ यह ध्यान रखने की जरूरत है कि जैसे फैक्ट्री के संदर्भ में मजदूरों के वेतन को पुनरुत्पादन की कीमत के हिस्से के रूप में देखा जाता है, खेती–किसानी के संदर्भ में किसान परिवारों का गुजर–बसर पर होने वाले खर्च को भी पुनरुत्पादन की कीमत में शामिल किया जाना चाहिए।)

अब दूसरी ओर नजर दौड़ाएं तो पता चलता है कि 4–10 हेक्टेअर की जमीन वाले परिवारों की मासिक आय 19,637 रूपए थी और जिन परिवारों के पास 10 हेक्टेअर से भी ज्यादा जमीन थी, उनकी मासिक आय 41,388 रूपए थी। इन परिवारों ने जरूरी खर्चे–पानी (consumption expenditure) के बाद भी ठीकठाक बचत की हुई थी।

---

39 यानि कि उन सब संसाधनों को किसान द्वारा इकट्ठा कर पाना जिनसे खेती का अगला चक्र फिर से शुरू किया जा सके और जिसे मार्क्सवादी भाषा में 'सरल पुनरुत्पादन' (simple reproduction) कहा जाता है।

तालिका 2: वार्षिक आय, बकाया कर्ज और खपत पर खर्च के बाद बची आय									
	ज़मीन का क्षेत्रफल (हेक्टेअर में)→	0.01 से कम	0.01 से 0.40	0.41 से 1.00	1.01 से 2.00	2.01 से 4.00	4.01 से 10.00	10.00 से ज़्यादा	सभी क्षेत्रफल
2	मज़दूरी या वेतन से आमदनी	2902	2386	2011	1728	1657	2031	1311	2071
3	खेती से शुद्ध प्राप्ति (net receipt)	30	687	2145	4209	7359	15243	35685	3081
4	पशुपालन से शुद्ध प्राप्ति (net receipt)	1181	621	629	818	1161	1501	2622	763
5	ग़ैर कृषि से शुद्ध प्राप्ति (net receipt)	447	459	462	593	554	861	1770	512
6	कुल आय (2+ 3+ 4+ 5)	4561	4152	5247	7348	10730	19637	41388	6426
7	कुल उपभोग व्यय	5108	5401	6020	6457	7786	10104	14447	6223
8	उत्पादक संपत्ति में शुद्ध निवेश (net investment)	55	251	540	422	746	1975	6987	513
9	कृषि–परिवारों की अनुमानित संख्या (सैकड़ों में)	23857	287381	315008	154810	83964	33519	3499	902039
10	परिवार, कुल का प्रतिशत	2.6%	31.9%	34.9%	17.2%	9.3%	3.7%	0.4%	100.0%
11	कुल आमदनी प्रति परिवार	54372	49824	62964	88176	128760	235644	496656	77112
12	औसत बकाया ऋण	31100	23900	35400	54800	94900	182700	290300	47000
13	औसत बकाया ऋण कुल आमदनी के प्रतिशत में (12/11)	57%	48%	56%	62%	74%	78%	58%	61%
14	आय ऋण उपभोग व्यय (6–7)	−547	−1249	−773	891	2944	9533	26941	203
15	कुल कृषि व पशुपालन आय (3+ 4)	1211	1308	2774	5027	8520	16744	38307	3844
16	कुल कृषि व पशुपालन आय ऋण उपभोग व्यय (15–7)	−3897	−4093	−3246	−1430	734	6640	23860	−2379
70वें राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (National Sample Survey) से परिकलित।									

बढ़ता हुआ कर्ज

NSS के आँकड़ों के अनुसार कर्ज में डूबे किसान परिवारों का प्रतिशत जो 2002–03 में 48.6% था, से *बढ़कर* 2012–13 में 51.9% हो गया। 18 में से 12 राज्यों में कर्ज में डूबे किसानों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। कर्ज की राशि भी बढ़ी। जहाँ 2002–03 में किसान परिवारों पर कर्ज उनकी वार्षिक आय का महज 49.6% था, वहीं 2012–13 में यह 11.4% की छलांग लगाकर पूरा 61 % हो गया।[40]

यह सही है कि कर्ज की यह बढ़ोत्तरी अपने आप में बहुत कुछ नहीं कहती। यह भी तर्क दिया जा सकता है कि यह बढ़ोत्तरी सिर्फ यह दर्शाती है कि इन परिवारों के लिए उधार का जुगाड़ करना कहीं अधिक सुलभ हो गया है। और यह उन किसानों के संदर्भ में सही भी हो सकता है जो अमीर हैं और जिनकी अच्छी–खासी आय है। लेकिन यह उन 70% निचले तबके के किसानों के लिए बिल्कुल भी सच नहीं है जो खेती–किसानी से अपनी जरूरतें पूरी नहीं कर पा रहे और कर्ज के लिए आज भी सूदखोर साहूकारों पर निर्भर हैं। इन किसानों के लिए कर्ज में आई यह बढ़ोत्तरी उनकी समृद्धि की परिचायक नहीं है, बल्कि कर्ज के दुष्चक्र की ओर इशारा करती है।

इसके अलावा, किसानों को खेती करने के लिए बैंक से मिलने वाले कर्ज (agricultural credit) में भी गिरावट आई है। बैंक अब दूरगामी निवेश में अधिक रूचि ले रहे हैं। सन 1991–92 में खेती करने के लिए बैंक जहाँ 70% तक कर्ज दे रहे थे, वहीं 2011–12 में यह आँकड़ा घटकर 40% पर आ गया है। इसका मतलब है, खेती में होने वाले निवेश में कमी आई है[41] और हमारी इस बात को भी बल मिलता है कि बढ़ता हुआ कर्ज, मर्ज–माफिक ही है।

यह आँकड़े उस समय के हैं जो अपेक्षाकृत बेहतर विकास का समय रहा है; तीन साल में यह आँकड़े और भी बिगड़े होंगे जिस समय में कृषि के विकास की दर पहले से घटी है। एक और महत्वपूर्ण बात यह भी है कि यह आँकड़े यह दर्शाते हैं कि भारत में जिस समय को तेजी से विकास का समय कहा जा सकता है, उस समय में भी कृषि व्यवसाय की चुनौतियों पर पार नहीं पाया जा सका – हाँ, यह सम्भव है कि कुछ समय के लिए उनका प्रभाव थोड़ा कम जरूर हुआ है।

---

40 निस्संदेह, दस साल पहले, 2002–03 में, जब पिछला NSS सर्वे हुआ था, किसान परिवारों का इससे भी बड़ा प्रतिशत कर्ज में डूबा हुआ था। लेकिन उस साल सूखा पड़ा था; जबकि 2012–13 एक सामान्य साल था जिसमें ऐसी कोई प्राकृतिक आपदा नहीं आई थी। यहाँ, यह भी स्पष्ट करना जरूरी है कि 2012–12 के सर्वे में 'किसान' की परिभाषा 2002–03 के सर्वे में उपयोग की गई परिभाषा से थोड़ी अलग थी।

41 आर. रामकुमार एवं पल्लवी चव्हाण, 2000 के दशक में भारतीय कृषि को बैंक–ऋण: उतार को समझना", रिव्यू ऑफ ऐग्रेरियन स्टडीज (R. Ramakumar and Pallavi Chavan, "Bank Credit to Agriculture in India in the 2000s: Dissecting the Revival", Review of Agrarian Studies), 2014.

साहूकार की वापसी

दरअसल, भारत में विकास का ढर्रा कुछ ऐसा ही है कि आभासी उन्नति के दौर के बाद एक उतार का दौर आना बिल्कुल असामान्य बात नहीं है। *जर्जर लग रहे पुराने संस्थान और संबंध भारत के राजनैतिक परिवेश में समय–समय पर पुन: उठ खड़े होते हैं,* कभी उसी स्वरूप में तो कभी बदले हुए भेष में। कृषि क्षेत्र में जब ऐसे दौर आते हैं जिनमें सरकारी निवेश (public investment) बढ़ता है, औपचारिक कर्ज (formal credit) के दायरे में बढ़ोत्तरी होती है और सरकारी दखल (state interventions) में भी इज़ाफा होता है, तो कृषि क्षेत्र की उन्नति के रूप में नतीजे सामने आते हैं और ऐसा लगता है कि पुरानी जंजीरें थोड़ी ढीली पड़ रही हैं और एक नए गतिशील किसान वर्ग की संभावना उपजती है। लेकिन जल्द ही यह भ्रम टूट जाता है, जब पता चलता है कि यह बेड़ियां थोड़ी ढीली भले पड़ी हों, इन्हें जड़ से काटने की कोई कोशिश नहीं है और वह दौर जल्द ही सामने आता है जिसमें सरकारी निवेश कम होने लगता है, औपचारिक कर्ज का दायरा सिमटने लगता है, सरकारी दखल भी पहले से कम हो जाती है और पुराने सामाजिक–आर्थिक संबंध फिर से जीवित हो उठते हैं।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण (1971) के शुरूआती दिनों से लेकर उदारीकरण के दौर (1991) की शुरूआत तक, कर्ज में डूबे किसान परिवारों का प्रतिशत गिरा। यही नहीं बल्कि 'गैरसंस्थागत' स्रोतों (साहूकारों, जमींदारों और व्यापारियों) से लिए जाने वाले कर्ज में भी कमी आई, जो दर्शाता है कि किसानों के लिए कर्ज लेने की शर्तें इस समय में कहीं बेहतर थीं। यह भी सच है कि तमाम सर्वे आधारित रिसर्च में भागीदार किसानों ने संभवत: जमींदारों या व्यापारियों से लिए हुए कर्ज को कई कारणों से कम करके ही बताया। इसके बावजूद ऐसा लगता है कि इस दौर में किसानों के हालात में कुछ सुधार तो आया।

पर, 1991 के बाद बैंको को शहरी उद्योग–धंधों और व्यापार आदि में निवेश के लिए शासकीय प्रोत्साहन मिलने पर, कृषि और छोटे उद्योग–धंधों को मार झेलनी पड़ी और कर्ज में डूबे किसान परिवारों का प्रतिशत एक बार फिर बढ़ने लगा। यही नहीं बल्कि साहूकारों और अन्य गैरसंस्थागत स्रोतों से लिए जाने वाले कर्ज में भी बढ़ोत्तरी हुई। इसलिए 2002–03 के आँकड़े आने के बाद आम जनता के बीच 'साहूकार की वापसी' को लेकर एक बहस ने जन्म लिया। तब से लेकर आज तक, खासतौर पर 2004 के बाद, कृषि क्रेडिट (agricultural credit) में काफी बड़ी लगने वाली बढ़त होने के बावजूद हालात बद से बदतर ही हुए हैं। (हालांकि, क्रेडिट में यह बढ़ोत्तरी दरअसल कृषि क्षेत्र में निवेश का बढ़ना नहीं दर्शाती है; इस बारे में और जानने के लिए इस फुटनोट 12 देखें।)

बड़े किसानों को बैंक से मिलने वाला कर्ज कहीं कम ब्याज दर पर उपलब्ध है। इसलिए यह बिल्कुल भी ताज्जुब की बात नहीं है कि जिसके पास कम जमीन है, वह कर्ज के लिए साहूकारों पर ज्यादा निर्भर है, जैसा कि 2012–13 के आँकड़ों से भी स्पष्ट है। NSS के आँकड़ों में ब्याज की अदायगी या प्रचलित ब्याज की दर के बारे में कोई जानकारी नहीं इकट्ठा की गई है। बल्कि ऐसा मालूम पड़ता है कि NSS के अधिकारी अनौपचारिक कर्ज बाजार (informal credit market), जो भारत में लोगों के बीच काफी प्रचलित व्यवस्था है, के बारे में

जानकारी इकट्ठा करने या उसका अध्ययन करने में बिल्कुल रूचि नहीं रखते हैं। जबकि यह तो अमूमन सभी जानते हैं कि साहूकारों से उधार लेने पर ब्याज की मासिक दर कम से कम 2% होती है जो बाकी स्रोतों की तुलना में काफी ज्यादा है। ब्याज की इतनी ऊंची दरें तभी सही जा सकती हैं जब पैसा किसी ऐसे काम में लगाया जाए जिसमें निश्चित रूप से बड़े फायदे की उम्मीद हो। कृषि जैसे व्यवसाय में जहाँ उत्पादन कम है और काफी अनिश्चित भी, वहाँ इस तरह की दरें किसानों की कमर ही तोड़ देती हैं।

इसके अलावा, गत वर्षों में हुए अध्ययन यह बताते हैं कि गांवों में साहूकार सिर्फ कर्ज देने की भूमिका नहीं निभाते। खेती के लिए जरूरी सामान, बीज आदि की बिक्री का काम भी वे ही करते हैं और वे ही फसल की खरीद–फरोख्त भी करते हैं। जमीन के मालिक भी वे ही हैं और भूमिहीन किसानों को नौकरी पर भी वे ही नियुक्त करते हैं। कर्ज, उत्पादन की प्रक्रिया, फसल, जमीन और श्रम पर इस संयुक्त पकड़ से प्रभावशाली वर्ग (साहूकार) इस पूरी व्यवस्था से अपेक्षा से कहीं अधिक निचोड़ लेते हैं। अगर किसान से उनका आर्थिक संबंध इनमें से सिर्फ एक तरीके से होता, तो व्यवस्था से इतना दोहन नहीं कर पाते।

NSS संस्था के एक अनुमान के हिसाब से 9 करोड़ 2 लाख (90.2 मिलिअन) किसान परिवारों के ऊपर कुल 423,000 करोड़ रूपए कर्ज है, जिसमें से 123,000 करोड़ (29.5 प्रतिशत) कर्ज साहूकारों, व्यापारियों, मालिकों, जमींदारों और बड़े दुकानदारों (जिन्हें हम प्रभावशाली वर्ग का ही हिस्सा मान सकते हैं) से लिया गया है।

निवेश में अड़चन

NSS के अनुसार, सभी किसान परिवारों के लिए उत्पादन के संसाधनों पर कुल निवेश मात्र 6,156 रूपए सालाना था। 2012–13 में जहाँ प्रति परिवार औसतन 47,000 रूपए कर्ज बकाया था और जिसका 40% गैर–संस्थागत स्रोतों पर उधार था (इसमें से 29.5% कर्ज ग्रामीण प्रभावशाली वर्ग से लिया गया था), महज ब्याज ही उत्पादन संसाधनों पर कुल निवेश से ज्यादा हो जाएगा।

यह खासतौर पर उन परिवारों के लिए एकदम सही है जिनके पास बहुत थोड़ी जमीन है। दरअसल ऐसे ही परिवारों की संख्या ज्यादा है और जमीन के एक बहुत छोटे हिस्से पर ही इनका अधिकार है। इन छोटे मामूली किसान परिवारों द्वारा लिए गए कर्ज का बड़ा हिस्सा गैर–संस्थागत ऐजेन्सियों से आता है और इसलिए इन पर ब्याज चुकाने का बोझ भी ज्यादा जमीन वाले किसानों की तुलना में कहीं ज्यादा होता है। (अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण (All India Debt and Investment Survey) की रिपोर्ट से पता चलता है कि 80% से अधिक संस्थागत कर्ज के लिए ब्याज की दरें जहाँ 6–15 % तक थीं, वहीं गैर–संस्थागत कर्ज के मामले में 35% कर्ज के लिए दरें 20–30% और अगले 34% कर्ज के लिए ब्याज की दर 30% थी।) छोटे किसान परिवार, जिनके पास जमीन काफी कम है, अपनी कुल आमदनी से अपने रोजमर्रा के खर्च भी नहीं चला पाते। जिन किसानों के पास 0.4 हेक्टेअर से कम जमीन है, वे 1249 रूपए प्रतिमाह के घाटे में हैं और जिनके पास

0.4 से लेकर 1 हेक्टेअर तक जमीन है, वे 773 रूपए प्रतिमाह के घाटे में गुजर–बसर कर रहे हैं। जाहिर है यह लोग मुनाफे से निवेश करने में समर्थ नहीं हैं।

ज्यादातर किसान परिवारों के अधिकार में बहुत थोड़ी जमीन है। खेती में उतना मुनाफा भी नहीं होता और उस पर ब्याज की दरें इतनी ऊंची हैं। यह सभी बातें कृषि में होने वाले निवेश में आड़े आती हैं और अगर निवेश कम है, तो उत्पादकता तो कम होगी ही।[42]

व्यवसायियों की समाज में प्रभावशाली स्थिति

सरकार की नज़रअंदाजी के चलते व्यवासियों का प्रभुत्व बढ़ता जाता है, जिसके चलते किसानों की आमदनी पर और भी बुरा असर पड़ता है। NSS द्वारा सन 2012–13 में किसानों की स्थिति के मूल्यांकलन के लिए किए गए सर्वे (Situation Assessment Survey of Farmers) से पता चलता है कि 20 प्रमुख फसलों में से गिनी–चुनी कुछ फसलों के लिए ही सरकारी या सहकारी ऐजेंसियों ने ठीकठाक खरीददारी (procurement) की – गन्ना (50–57%), खरीफ के धान (17%), गेहूं (19%), जौ (15%) और कपास (8%)। आमतौर पर, किसानों द्वारा बेचा गया ज्यादातर हिस्सा स्थानीय व्यापारियों, *मंडी* (किसान उत्पाद बाजार) और उत्पादन सामग्री विक्रेताओं द्वारा इनकी अहमियत के क्रम में खरीद लिया जाता है।

सन 2015–16 की *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) की रिपोर्ट यह बताती है कि फसलों के थोकभाव (wholesale price) और किसानों को मिलने वाली कीमत (farmgate price) के बीच का अंतर काफी ज्यादा है। व्यापार में होने वाले इस फासले के संबंध में एक और जरूरी बात जिस पर यह रिपोर्ट ध्यान दिलाती है, वह यह है कि धान या गेहूं जैसी फसलों पर यह अंतर काफी कम है। यह वे फसलें हैं जिन पर सरकार की तरफ से खरीदी के लिए न्यूनतम सहयोग मूल्य (minimum support price) तय किया जाता है। यह आँकड़े इस बात की ओर इशारा करते हैं कि खरीद–फरोख्त में सरकारी सहयोग के बिना आम किसान अपनी फसल व्यापारियों को औने–पौने दाम पर बेचने के लिए मजबूर हो जाते हैं। सरकारी खरीद का आश्वासन होने पर प्राइवेट व्यापारियों द्वारा मिलने वाला भाव भी बढ़ जाता है।

जिन फसलों पर ठीकठाक सरकारी खरीद नहीं होती, उनमें से तुअर और मूंग को अगर छोड़ दें तो उन सभी फसलों, जो जल्दी खराब हो जाती हैं (जैसे – आलू, प्याज, मूंगफली वगैरह), पर तो यह अंतर और भी ज्यादा होता है। इससे यह साफ पता चलता है कि व्यापारीगण जल्दी खराब हो जाने वाली फसलें उगाने वाले किसानों

42 जैसा कि लेख में दिया गया है, कर्ज के सरकारी आँकड़े, खासतौर पर जो कर्ज प्राइवेट स्रोतों से लिया जाता है, उतने सही नहीं हैं। यह कम आंकलन करके बताए हुए आँकड़े हैं। किसान, कई वजहों से, जमींदारों या व्यापारियों से लिए गए कर्ज का ठीक–ठीक परिमाण नहीं बताते। अन्यथा, कृषि उत्पादों की अनुमानित लागत को देखते हुए, यह समझना काफी कठिन है कि खेती की वर्तमान लागत का बंदोबस्त किसान कैसे करते हैं।

की मजबूरी का फायदा उठाने में खूब सक्षम हैं। किसानों की यह मजबूरी व्यापारियों से सौदा करने की उनकी ताकत को कमजोर बना देती है और इसी वजह से ऐसा देखा गया है कि पिछले एक दशक में कई किसान फलों और सब्जियों की ओर झुकने लगे हैं।[43] अब फल और सब्जियां उगाने का ज्यादातर काम छोटे किसान ही कर रहे हैं, जिनके पास श्रम ही सबसे बड़ी पूंजी है और इसी के बल पर जमीन कम होने के बावजूद वे सारी अड़चनें पार कर लेने की कूबत रखते हैं।[44] जहाँ इन फसलों का उत्पादन तेजी से बढ़ा है, उत्पादक मूल्यों (producer prices) में काफी अस्थिरता आई है और अक्सरकर वह उत्पादन मूल्य (cost of production) से भी कम पाया गया है। ऐसी कई घटनाएं सामने आई हैं जब किसानों ने अपनी फसल को सड़क पर ही फेंक दिया या कोल्ड स्टोरेज में लावारिस छोड़ दिया। जहाँ किसानों पर गाज गिर रही है, वहीं ग्राहकों को भी मूल्यों की उठापटक झेलनी पड़ रही है। आलू, प्याज और टमाटर जैसी रोजमर्रा की सब्जियां भी आए दिन बाजार से गायब रहती हैं।

ऐसी परिस्थिति में कम से कम तीन वजहों से सरकार से तुरत कार्रवाई की अपेक्षा है – 1) किसानों को स्थायी (stable), उम्मीदों के मुताबिक चलने वाला (predictable), और आश्वासित (assured) पारिश्रमिक मिल सके, 2) सरकार द्वारा संचालित संग्रहण (collection), शीत भंडारण (cold storage) और परिवहन (transport) का व्यापक नेटवर्क जिससे कृषि उत्पाद में नुकसान को कम किया जा सके, और 3) खुदरा व्यापारियों (small retailers) को ठीकठाक भाव में सामान उपलब्ध कराया जा सके। जबकि ऐसा देखा गया है कि किसानों के हित के नाम पर सरकारी बजट खरीदी, भंडारण, प्रोसेसिंग, कृषि उत्पादों को एक–जगह से दूसरे जगह ले जाने का काम और यहाँ तक कि उनकी फुटकर बिक्री के लिए भी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Foreign Direct Investment) को न्यौता दे रहा है। कृषि क्षेत्र में इस सीधे विदेशी पूंजी के निवेश की बात भले ही कहीं ना पहुंचे, सरकार द्वारा इस तरह अपनी जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ना और किसानों को उनके हाल पर छोड़ देना प्राइवेट कंपनियों के रूप में किसान–विरोधी ताकतों को और मजबूत करता है।

छोटे किसान उन व्यापारियों से भी उत्पीड़ित होते हैं जो उन्हें खेती के लिए जरूरी सामान (inputs) बेचते हैं और अक्सर उधार भी देते हैं। सन 2015–16 के *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) के आँकड़े बताते हैं कि 51% भारतीय किसान सरकार द्वारा निर्धारित अधिकतम मूल्य (stipulated maximum retail price – MRP) से भी अधिक कीमत देकर यूरिया खरीदते हैं। औसतन, काले बाजार में चीजों की कीमत उनके

43 फलों की खेती के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले खेत का क्षेत्रफल जो 2004–05 में 50.5 लाख हेक्टेअर था, 2013–14 में 43% बढ़कर 71.3 लाख हेक्टेअर हो गया। इसी तरह, सब्जियों की खेती के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले खेत का क्षेत्रफल उसी समय में 67.4 लाख हेक्टेअर से 23.4% बढ़कर 83.2 लाख हेक्टेअर हो गया। देवकर एवं शेट्टी, ऊपर दिए गए संदर्भ से (Deokar and Shetty, op. cit.)

44 सुरिन्दर सुद, "बागवानी में एक ख़ामोश क्रांति", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Surinder Sud, "A silent horticulture 'revolution'", Business Standard), 15/3/2015.

निर्धारित मूल्य (MRP) से 61% ज्यादा होती है। बड़े किसानों की पहुंच भी ऊंची होती है और वे अपने नेटवर्क का इस्तेमाल करके सब्सिडी वाला यूरिया खरीद लेते हैं, जिसकी वजह से छोटे किसानों का एक बड़ा प्रतिशत काले बाजार से यूरिया खरीदने को मजबूर है। औसतन, छोटे किसान बड़े किसानों की तुलना में उतने ही यूरिया के लिए 17% अधिक कीमत अदा करते हैं। पंजाब, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु में तो यह आँकड़ा 55–70% तक चला गया है। (बड़े ही विसंगत तरीके से *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) सरकारी अव्यवस्थाओं और भ्रष्टाचार को आधार बनाकर खाद से सब्सिडी हटाने की दलील करता है और विकल्प के रूप में नकद हस्तांतरण (cash transactions) को बढ़ावा देने की बात करता है और साथ ही यूरिया के दाम पर कोई भी अंकुश ना रखा जाए, यह मांग करता है। ऐसी कोई भी नीति यूरिया के दामों को ठीक अनियंत्रित तरीके से आसमान पर पहुंचा देगी जैसे पोटाश और फॉस्फेट के दामों के साथ हुआ था और फिर खाद के इस्तेमाल में जबरदस्त गिरावट आएगी।)

सरकारी चर्चाओं में जब कृषि पर बात होती है तो यह मानकर चला जाता है कि कृषि का व्यवसायीकरण (commercialisation) ही किसानों के हित में है। दरअसल, कृषि के मामले में तो सरकार की रणनीति एकदम स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र को और भी ज्यादा बाजार की तरफ मोड़ना। हालांकि, यह भी एक ध्यान देने की बात है कि 1990 के दशक के आखिर से ही किसानों की आत्महत्याओं की खबर उन इलाकों से ज्यादा आ रही हैं, जहाँ कृषि का व्यवसायीकरण अधिक हुआ है और खास तौर पर उन किसानों की जो व्यवसायिक फसलें जैसे – कपास की खेती में लगे हैं। सन 2002–03 में NSS के किसानों की स्थिति के मूल्यांकन के लिए किए गए सर्वे (Situation Assessment Survey of Farmers) के आँकड़ों के आधार पर हम गणना कर सकते हैं कि किसी फसल का कितना हिस्सा अलग–अलग राज्यों में बेचा गया, जिससे व्यवसायीकरण की एक माप मिल सकती है।[45] इसी सर्वे से हम अलग–अलग राज्यों में कर्ज में डूबे किसानों का प्रतिशत भी निकाल सकते हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि *जो किसान फसल का जितना ज्यादा हिस्सा बेच पाया है, उसके ऊपर कर्ज भी उतना ज्यादा है*। और, जैसा कि हमने पहले बात की, जो किसान अपनी खेती की कमाई से अपनी रोजमर्रा की जरूरतें पूरी करने में कहीं अधिक असफल हुए हैं, उनके ऊपर कर्ज भी बढ़ा है। दूसरे शब्दों में कहें तो किसान की स्थिति सुधारने और उन्हें संचय में सक्षम बनाने का प्रयास करने के बजाय, कृषि क्षेत्र जैसे–जैसे बाजार की ओर रूख हो रहा है, किसान उतना ज्यादा कर्ज के जंजाल में फंसता जा रहा है।

45 यही गणना 2012–13 के नवीनत राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) सर्वे के आधार पर आसानी से नहीं की जा सकती।

चार्ट 6: बेचे हुए कृषि उत्पाद का प्रतिशत और किसान के ऊपर कर्ज, 2002-03

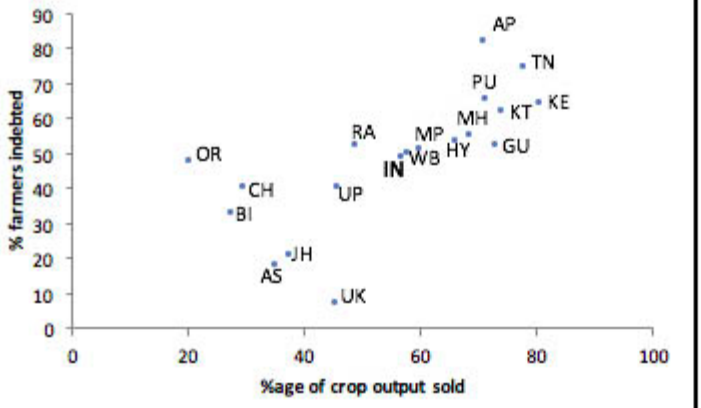

Note: AP – Andhra Pradesh. AS – Assam. BI – Bihar. CH – Chhattisgarh. GU – Gujarat. HY – Haryana. **IN** – All-India average. JH – Jharkhand. KE – Kerala. KT – Karnataka. MH – Maharashtra. MP – Madhya Pradesh. OR – Orissa. PU – Punjab. RA – Rajasthan. TN – Tamil Nadu. UK – Uttarakhand. UP – Uttar Pradesh. WB – West Bengal. y = 0.7155x + 8.8597.
Source: Calculated from NSS 59th Round (2002-03), Reports 497 and 498.

बात का सार यह है कि – i) अपेक्षाकृत ज्यादा सरकारी निवेश, किसानों को मिलने वाले ऋण की शर्तों में नरमी (expanded agricultural credit), और सरकारी हस्तक्षेप के दौर में भी कृषि के क्षेत्र में चल रहा संकट जड़ से खत्म नहीं हो जाता। हाँ, उसका असर थोड़ा कम जरूर हो सकता है और किसानों को थोड़ी राहत मिल सकती है। ii) जैसे–जैसे नवउदारवादी सरकारें कृषि क्षेत्र में निवेश कम करती हैं, वैसे–वैसे अनेकों शोषणकारी घटक सक्रिय हो उठते हैं और किसानों पर अपना शिकंजा कसना शुरू कर देते हैं। iii) यह पूरी प्रक्रिया ना केवल किसानों और कृषि क्षेत्र की उन्नति में आड़े आती है, उसे पंगु बना देती है, बल्कि समाज में एक गतिशील किसान वर्ग के उभरने की संभावना को भी खत्म कर देती है।

IV. विदेशी निवेश का कच्चा चिट्ठा

पिछले 3 सालों में किसानों को विभिन्न कृषि उत्पादों जैसे आलू, रबड़, कपास, चावल, ग्वार, अंडा और दूध इत्यादि से मिलने वाले दामों में एक आकस्मिक और भयावह तेज़ गिरावट आई है। कई बार तो यह कीमत उत्पाद की लागत से भी कम रही। कुछ मामलों में तो ऐसा भी हुआ कि खरीद के दामों में आई तेज़ उछाल के तुरंत बाद मंडी के दाम जमीन पर उस समय आ गिरे जब किसान अपनी फसल को बाजार में ला ही रहे थे।

हमारे वित्त मंत्री इस घटना से ज्यादा विचलित नजर नहीं आते हैं, बल्कि उन्होंने अपने आप को इससे दूर ही रखा है और महज खानापूर्ति भर के लिए एक–आधा बार ही मामले में रुचि दिखाई है। हालांकि उन्होंने अपने 2016 के बजट के भाषण के दौरान इस समस्या का अपना समाधान बताया:

> हमारी विदेशी निवेश (FDI) की नीति को किसानों और खाद्य उद्योग की जरूरतों को पूरा करना होगा। कई बार जो फल और सब्जियां हमारे किसान उगाते हैं उन्हें या तो उसका सही दाम नहीं मिलता या फिर वह बाजार तक पहुंचने में भी विफल रहते हैं। खाद्य प्रौद्योगिकी उद्योग (food processing industry) और व्यापार को और कुशल बनाने की आवश्यकता है। देसी खाद्य पदार्थों के प्रचार और प्रसार के लिए FIPB के जरिए शत–प्रतिशत विदेशी निवेश को रास्ता दिया जाएगा। यह कदम किसानों के लिए लाभकारी होगा, खाद्य प्रौद्योगिकी उद्योग को बढ़ावा देगा और रोजगार के नए आयाम कायम करेगा।

वैसे तो यह कोई वित्तीय क़दम नहीं है क्यूँकि इसमें सरकार द्वारा किसी भी कर या व्यय का प्रावधान नहीं है; यह तो सरकारी ख़र्च से *बचने के लिए* महज़ एक नीतिगत फ़ैसला है। मतलब वित्त मंत्री के अनुसार अब किसानों को फ़सल के बाद होने वाले नुक़सान व व्यापारिक शोषण से बचाने या उसके लिए ज़रूरी बुनियादी ढाँचे खड़े करने का काम सरकार के बजाए विदेशी निवेश (FDI) के कंधों पर होगा।

यह मुद्दा इस समय इसलिए भी ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि पिछले कुछ सालों में बागवानी उत्पाद में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। हालांकि यह सच है कि कुछ बागवान बड़ी जमीनों और बड़े निवेश वाले अमीर किसान हैं, लेकिन ज्यादातर बागवान तबका गरीब किसानों से भरा हुआ है। छोटी–छोटी ज़मीनों से अपनी जीविका चलाने के लिए एक बड़ी संख्या में किसानों ने बागवानी की ओर अपना रुख कर लिया है। (फलों की जोत में इन छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों की जोत 90 फ़ीसदी है जबकि यह सिर्फ 50 फ़ीसदी जमीन पर काबिज हैं, सब्जियों में इनकी जोत 87 फ़ीसदी की है और यह 58 फ़ीसदी जमीन पर काबिज है[46])। पिछले दशक में बागवानी की जमीन प्रति वर्ष 2.7 प्रतिशत से बढ़ी है और अब यह कुल 242 लाख हेक्टेअर है। साल 2013 –2014 के दौरान भारत में बागवानी से उत्पाद 2,835 लाख टन रहा जो कि अनाज के उत्पाद से अधिक था।[47]

---

46 कृषि सर्वेक्षण (Agricultural Census) 2010–11, तालिका (Table) 6B.

47 आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2015–16, भाग II, पृष्ठ 113 (vol. II, p. 113).

भूतपूर्व नीति आयोग की एक आधिकारिक समिति[48] ने प्रकाश डाला था कि

> फलों और सब्जियों के मामले में, बड़ी मंडी में मिलने वाले शुरुआती दाम और अंतिम खुदरा दामों का अनुपात 25 से 40 प्रतिशत होता है। यदि छोटी मंडियों को भी शामिल कर लिया जाए तो यह अनुपात और भी कम हो जाता है। किसान के हाथ आने वाला दाम इससे भी कम होता है क्योंकि ज़्यादातर मध्यस्थ दलाल उपज को मंडी तक लाते हैं और उनका खर्च, फ़ायदा और अपव्यय (wastage) इत्यादि भी इसमें से ही जाता है।

समिति ने आलू व्यापार का उदाहरण दिया था जो कि उपज के मौसम में दामों की भारी गिरावट का शिकार होता है। महंगे और सस्ते समय के दामों में 100 –150 प्रतिशत का अंतर रहता है। इसके चलते छोटे और गरीब किसान अपनी उपज को कभी–कभी लागत से भी कम दामों में बेचने को मजबूर हो जाते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे मूल्य किसानों को हतोत्साहित कर खेती से दूर ले जाते हैं। पूरा आलू बाजार कुछ चुनिंदा व्यापारियों और उन दलालों की मुट्ठियों में है जो कि अलग अलग राज्यों में बड़े–बड़े कोल्ड स्टोरेज चलाते हैं, और इस वजह से बाजार तक आलू की आपूर्ति पर नियंत्रण रखते हैं।

प्याज का हाल भी कुछ ऐसा ही है। भारतीय प्रतिस्पर्धा आयोग (Competition Commission of India) के 2012 के एक शोध में यह पाया गया कि प्याज बाज़ार भी गुटखोरी (cartelisation) व जमाखोरी का शिकार है। मंडी की पूरी कमान कुछ बड़े नेटवर्क वाले व्यापारियों और उनके दलालों के हाथ होती है। इस शोध में पाया गया कि मंडी के दाम तय करने में व्यापारियों की एकतरफा भूमिका होती है; मूल्य–निर्धारण (यानी मंडी में आपूर्ति और मांग (demand and supply) के ज़रिए दाम तय करना) में किसानों की भूमिका औसतन छोटी जमीन (1.15–1.3 एकड़) होने की वजह से ना के बराबर होती है।[49]

जब जब बाजार में प्याज के दाम 40 से 80 रुपए प्रति किलो तक पहुंचते हैं, तब–तब उपभोक्ताओं को गुटखोरों (caretels) की मज़बूत पकड़ का आभास होता है। उदाहरण के तौर पर 2014–15 में प्याज का उत्पाद पिछले साल से महज 2.6 प्रतिशत कम था, मगर सितंबर 2015 में मंडियों में प्याज सितंबर 2014 से दुगने दामों में बिका था। शहरी उपभोक्ताओं को शायद इस बात का आभास ना हो कि जब प्याज की नई फसल (साल में 3 बार) मंडी में आती है तो उसका किसानों को महज 8, 4 या कभी कभी तो महज़ 2 रुपया प्रति किलो ही मिलता है। लागत से कहीं कम होने के बावजूद भी किसान मजबूर होकर इन दामों पर अपनी फसल बेचने को राजी हो जाते हैं। कुछ सक्षम किसानों ने छोटे कोल्ड स्टोरेज बना रखे हैं और वह मंडी में दाम बढ़ने

48 योजना आयोग, आपूर्ति श्रृंखलाओं में निवेश प्रोत्साहन पर रिपोर्ट जिसमें शीत भंडारण की व्यवस्था के ज़रिए कृषि उत्पाद का अधिक कुशल वितरण भी शामिल है (Planning Commission, Report of the Committee on Encouraging Investments in Supply Chains Including Provision for Cold Storages for More Efficient Distribution of Farm Produce), मई 2012.

49 "प्रतियोगिता पैनल को पता चला की प्याज की कीमत कार्टल्स तय कर रहे हैं", पी. टी. आइ. ("Competition panel finds price fixing in onions by cartels"), P.T.I., 7/2/2013.

पर ही अपनी फसल बेचते हैं, मगर ज्यादातर किसानों के पास यह सक्षमता या भंडारण क्षमता उपलब्ध नहीं है।

पिछले साल के प्याज के संकट के समय कीमतों को स्थिर रखने के लिए सरकार ने महज 500 करोड़ का मूल्य स्थिरीकरण कोष (Price Stabilisation Fund) बनाया था। इस हास्यापद राशि के ज़िम्मे ना केवल प्याज़ बल्कि अन्य सभी बाग़बानी फ़सलों के उपयुक्त दाम मुहैया कराना था। इस धनराशि के हास्यापद होने का अन्दाज़ इसी तथ्य से लग जाता है की नीति आयोग ने स्वयं अंदाज़ा लगाया कि प्याज़–संकट के चलते व्यापारियों को अगस्त–सितम्बर 2015 के बीच रुपए 8,000 करोड़ रुपए का अधिक फ़ायदा हुआ। सरकारी एजेंसियों जैसे NAFED[50] और लघु कृषक व्यापार संघ (SFAC) ने प्याज के भंडारण पर अधिक से अधिक 100 से 200 करोड़ रुपया ही खर्चा था। पिछले प्याज़ संकट में NAFED और SFAC ने 8 से 9 करोड़ रुपया किसानों से सीधे प्याज़ ख़रीदने के लिए ब्याज–रहित मुहैया कराया।[51]

कार्टेल (गुटबंदों, Cartels) की जकड़

ज्यादातर बागवानी फसलों की भी ऐसी ही हालत है। योजना आयोग की रिपोर्ट, जिसका ज़िक्र पहले किया गया है, कहती है "लाइसेंस धारको और दलालों ने ज़्यादातर मंडियों में अनौपचारिक कार्टेल बना रखी है। यह बिचौलिए इस तरह से पूरी मूल्य–प्रणाली (value chain, यानी ख़रीदने से बेचने तक) पर हावी रहते हैं, और ऐसा पाया गया है कि कई बार मंडी के नियम–क़ानून तोड़े जाते हैं या उनसे फ़ायदा उठाया जाता है ... औसतन किसानों को अंतिम खुदरा दाम का तिहाई या चौथाई हिस्सा ही मिलता है, जो फ़सल दर फ़सल, जगह दर जगह और मौसम पर निर्भर करता है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि जब मौसम में दाम गिर जाते हैं या उस समय जब खुदरा दाम बढ़ जाते हैं, तो यह हिस्सा घटकर 10 से 15 फ़ीसदी ही रह जाता है।"

2000 के दशक में तेज़ बढ़त दौर में कोल्ड स्टोरेजो की भंडारण क्षमता तेजी से बढ़ी। मौजूदा 287 लाख टन की भंडारण क्षमता में से 140 लाख टन 2000 से 2011 के दौरान बनी, ज़्यादातर सरकारी छूट (पूंजी निवेश का 40–45 प्रतिशत) के चलते। लेकिन भंडारण क्षमता में बढ़ोत्तरी का लाभ ज़रूरी नहीं है कि किसानों को मिले। लगभग 96 फ़ीसदी कोल्ड स्टोरेज निजी क्षेत्र के हैं, जिनकी कमान व्यापारियों और दलालों के हाथ है। रिपोर्ट बताती है कि इन व्यापारियों और दलालों का उसूल है, "जमाख़ोरी से फ़ायदा उठाना, यानी मौसम में सस्ता ख़रीद कर उस समय बेच देना जब बाज़ार में माल ना हो।"

---

50 भारतीय राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ लिमिटेड (National Agricultural Cooperative Marketing Federation of India)

51 संजीव मुखर्जी, "व्यापारियों ने प्याज़ संकट के दौरान 8,000 करोड़ कमाए हो सकते हैं", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Sanjeeb Mukherjee, "Traders may have pocketed Rs 8,000 crore during onion crisis", Business Standard), 7/10/2015.

APMC को बदनाम करो और कम्पनियों के लिए रास्ता साफ़ करो

यह बहुत आश्चर्यजनक नहीं है की सरकारी समितियों और रिपोर्टों ने दलालों की ही भर्त्सना की है, बल्कि यह तो मौजूदा प्रवृत्ति है। इन समीक्षाओं की खलनायिका APMC (Agricultural Produce Market Committees यानी कृषि उत्पाद मार्केट समितियां) होती है। कृषि उत्पाद की बिक्री, ज़्यादातर राज्यों में, APMC के ज़िम्मे है। APMC वास्तव में 1950 के दशक में एक सुधार के रूप में स्थापित की गई थीं ताकि किसानों को फ़सल खेतों में ही व्यापारियों–सूदख़ोरों के हाथों औने पौने या कम दाम पर ना बेचनी पड़े। APMC का उद्देश्य, सभी फ़सल को बाज़ार स्थल पर लाकर उसे क़ायदे से वज़न करना, उसकी गुणवत्ता परखना, उचित दाम तय करना, और फिर भुगतान सुनिश्चित करना था। जैसा कि पहले बताया गया है कि व्यापारियों की ग़ुटबंदी की वजह से APMC में काफ़ी अनाचार है। दो ज़ाहिर से सुधार सूझते हैं: या तो सरकार दख़ल देकर APMC का क़ायदे से चलना सुनिश्चित करे या फिर सीधे किसानों से माल ख़रीद ले। यह दोनों ही काम ना करके सरकार ने उन दलालों को फ़ायदा पहुँचाया है जिनकी निंदा उसकी रिपोर्ट करती हैं, और उसने किसानों को उनकी गिरफ़्त में छोड़ दिया है।

APMC की सरकारी आलोचना महज़ कम्पनियों के प्रवेश की प्रस्तावना भर है। अगर सरकारी रिपोर्टरों की मानें तो यह निजी कंपनियां उदार संगठन हैं जो किसानों को फ़ायदा पहुँचाने के लिए उत्सुक हैं और बस क़ानूनी झमेलों और नियम क़ायदों ने उन्हें रोक रखा है।

कटाई के बाद फसल खराब होने के मनघड़ंत दावे

कटाई के बाद कोल्ड स्टोरेज या ढुलाई के साधन ना होने के कारण विशाल स्तर पर खराब हुई बागवानी फसल के किस्से हम हमेशा से सुनते आ रहे हैं, ऐसा कहा जाता है कि यह नुक़सान निजी कम्पनियों के निवेश से रोका जा सकता है। इस नुकसान का आंकलन 35 से 40 फ़ीसदी बताया जाता रहा है। हालांकि यह आँकड़ा आधारहीन और मनघड़ंत है, मीडिया और सरकारी प्रकाशनों ने दोहरा–दोहरा कर इसकी विश्वसनीयता को स्थापित कर दिया है।

यदि इस दावे में सच्चाई होती तो अब तक अनेकों देशी विदेशी निवेशकों ने इस मौक़े का फ़ायदा उठा लिया होता। 2015–16 के आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) में उजागर हुआ कि यह नुकसान का 35 से 40 फ़ीसदी का आकड़ा बहुत ही अनाप–शनाप है। इस सर्वे में सर्वाधिक नुकसान अमरूद उत्पाद में पाया गया जो कि 15.8 फ़ीसदी था और ज़्यादातर फसलों में यह 5 से 10 फ़ीसदी ही था।

तालिका 3: कटाई के बाद बड़ी फसलों में संचित नुकसान की दर (%)		
	2010	2015
अनाज	3.9–6.0	4.7–6.0
दाल	4.3–6.1	6.4–8.4
तिलहन	2.8–10.1	5.3–10.0
फल और सब्जियां	5.8–18.0	4.6–15.9
दूध	0.8	0.9
मछली पालन (नदी)	6.9	5.2
मछली पालन (समुद्र)	2.9	10.1
मांस	2.3	2.7
मुर्गी पालन	3.7	6.7
बागवानी उत्पाद		
अमरुद	18	15.8
आम	12.7	9.2
सेब	12.3	10.4
अंगूर	8.3	8.6
पपीता	7.4	7.8
केला	6.6	6.7
अनाज		
गेहूं	6	4.9
चावल	5.2	5.5
बाजरा	4.8	5.2
मक्का	4.1	4.7
स्रोत: खाद्य प्रसंस्करण उद्योग मंत्रालय. आर्थिक सर्वेक्षण (Ministry of food processing industries, Economic Survey), 2015–16, vol. II, p. 115		

आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) के इन आँकड़ों पर भी जानकारी जुटाने में तय मान्यताओं को लेकर सवाल उठाए जाने चाहिए। क्योंकि जो उत्पाद मंडी में नहीं पहुंचता वह जरुरी नहीं है कि खराब ही हो, उसे स्थानीय रूप से बेचा जा सकता है या उसकी खपत हो सकती है। भारत जैसे गरीब देश में, जहाँ कूड़ा बीनना भी एक रोजगार माना जाता है, वहाँ खाद्य पदार्थ शायद ही खराब होकर फेंके जाते हैं।

क्यूँकि हमें यह बताया जाता है कि विदेशी निवेश से खाद्य उद्योग में नुकसान कम किया जा सकता है, तो ऐसे में आइए अमेरिका में खाद्य पदार्थ के नुकसान पर संयुक्त राष्ट्र की खाद्य और कृषि संगठन (FAO) की रिपोर्ट पर एक नजर डाल लें।

तालिका 4: अमेरिका में खाद्य पदार्थों के नुक़सान की अनुमानित दर

	अनाज	समुद्री खाद्य उत्पाद	फल और सब्जी	मांस	दूध
उत्पाद के दौरान हुआ नुकसान	2.0 %	12.0 %	20.0 %	3.5 %	3.5 %
संरक्षण और स्टोरेज में नुकसान	2.0 %	0.5 %	4.0 %	1.0 %	0.5 %
प्रसंस्करण और पैकिंग में नुकसान	10.0 %	6.0 %	2.0 %	5.0 %	1.2 %
वितरण और खुदरा नुकसान	2.0 %	9.0 %	12.0 %	4.0 %	0.5 %
कुल	16.0 %	27.5 %	38.0 %	13.5 %	5.7 %

स्रोत: खाद्य एवं कृषि संगठन, वैश्विक खाद्य हानि एवं खाद्य अपशिष्ट: विस्तार, कारण और रोकथाम(Food and Agriculture Organisation (FAO), Global Food Losses and Food Waste: Extent, Causes and Prevention), 2011.

इस तालिका में हमने उपभोक्ता द्वारा किए गए नुकसान, जिसमें वहाँ सबसे ज़्यादा नुक़सान होता है, उसको संज्ञान में नहीं लिया है (यह भारत जैसे देशों में काफ़ी कम है)।[52] इसके बावजूद ऐसा लगता है कि अमेरिका में खाद्य नुकसान भारत से कहीं ज्यादा है। इसका कारण खाद्य मार्केटिंग का निजीकरण ही है, जिसके ऐसे उत्पाद जो निजी पैमानों के स्तर पर खरे नहीं उतरते वे बाज़ार के बदले कूड़ेदान में चले जाते हैं, और बिलकुल खाने योग्य उत्पाद जो बाज़ार में दो–तीन दिन रह गए हैं, वे फेंक दिए जाते हैं। भारतीय खाद्य उद्योग में विदेशी निवेश लाने से नुकसान में कमी नहीं बल्कि इसमें विशाल वृद्धि ही होगी, अगर नुक़सान वास्तविक समस्या है तो भी।

52 खाद्य एवं कृषि संगठन (Food and Agricultural Organization) के अंदाज से विकसित देशों में उपभोक्ताओं द्वारा की गई भोजन की बर्बादी (2,220 लाख टन) पूरे उप–सहारा अफ्रीका में भोजन की कुल उपज (2,300 लाख टन) के लगभग बराबर होगी।

ना पैसे का अभाव है ना तकनीक का

जैसा की सब जानते हैं कि *कोल्ड स्टोरेज और परिवहन के लिए किसी आधुनिक तकनीक की तो आवश्यकता नहीं होती है,* और इसलिए विदेशी कम्पनियों को आमंत्रण देने की ज़रूरत नहीं बनती। अगर सरकार की ज़रूरी सुविधाएँ जुगाड़ने की मंशा हो तो ऐसी कोई बड़ी पूंजी की भी ज़रूरत नहीं है जो बजट पर भारी दबाव डाले।

नेशनल स्पॉट एक्सचेंज (National Spot Exchange) ने 2010 में अन्दाज़ लगाया कि भारत में 368 लाख टन की क्षमता के कोल्ड स्टोरेज बनाने की ज़रूरत है, जबकि उस समय 243 लाख टन की क्षमता उपलब्ध थी। यह ज़रूरत काफ़ी ज़्यादा लग सकती है पर ध्यान रखें कि 1999–2000 से 2011–12 के बीच राष्ट्रीय बागवानी बोर्ड और राष्ट्रीय बागवानी मिशन के ज़रिए 1,139 करोड़ रुपयों की आर्थिक सहायता देकर 154 लाख टन की क्षमता के कोल्ड स्टोरेज बने थे।[53] योजना आयोग ने खाद्य उत्पाद आपूर्ति श्रृंखला को मजबूत करने के लिए 25,000 करोड़ के पंचवर्षीय बजट का अनुमान लगाया था जो कि सालाना 5000 करोड़ का खर्च बैठता है।[54] यह कतई भी ज़्यादा नहीं है, क्यूँकि बागवानी का GDP में योगदान अब लगभग 7 लाख करोड़ रुपए (कृषि GDP का तिहाई और सम्पूर्ण GDP का 6 प्रतिशत है)। ना ही यह काम भारतीय प्रबंधन कौशल के लिए कोई बड़ी चुनौती होनी चाहिए जैसा कि गुजरात में सिर्फ़ पांच दशक पहले गठित किए गई दुग्ध सहकारी समितियों (कोऑपरेटिव, Cooperative; जो कि यहाँ से कहीं ज़्यादा जटिल प्रोजेक्ट था) की सफलता से साबित हो चुका है।

निजी निवेशकों की मंशा

नवउदारवादी नीतियों के आने के बाद ना केवल नए सरकारी हस्तक्षेप मना किए जा रहे हैं, बल्कि पुराने सरकारी प्रयासों को भी समेटा जा रहा है। इसका कारण यह है कि अगर सरकारी प्रयासों से यह उजागर हो जाता कि बिना निजी निवेशकों के भी वह सब कुछ सम्भव है, तो यह कम्पनियों के हित में नहीं होगा। इसीलिए नवउदारवाद की नीतियाँ लाने के बाद सरकार ने NAFED[55] जैसी संस्थाओं को फल और सब्ज़ी बाज़ार में निर्जीव और निरर्थक बना दिया (दूसरी तरफ़ निजी क्षेत्र की कम्पनियाँ सब्सिडी के रूप में मिलने वाली सरकारी पूंजी का खुले दिल से स्वागत करती हैं, और उनके दिशानिर्देशकों को इसमें कोई अंतर्विरोध भी नजर नहीं आता।)

खोजने पर कभी कदार सरकारी संस्थाओं का हस्तक्षेप किसी कोने में मिल भी जाता है। जैसे कि योजना आयोग की रिपोर्ट के पिछले पन्नों में CCI (भारतीय कंटेनर निगम लिमिटेड, Container Corporation of India) की

53 योजना आयोग, ऊपर दिए संदर्भ से, पृष्ठ 85. (Planning Commission, op. cit., p. 85).

54 वहीं से, पृष्ठ 76. (Ibid., p. 76).

55 भारतीय राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ लिमिटेड (National Agricultural Cooperative Marketing Federation of India)

एक सहायक संस्था FHEL (फ्रेश एंड हैल्थी इंटरप्राइजेज लिमिटेड, Fresh and Healthy Enterprises Ltd) के गठन का ज़िक्र मिला जिसका जिम्मा कोल्ड स्टोरेज की शृंखला का एक ढांचा खड़ा करना है। वर्तमान में इसका मुख्य कार्य हिमाचल प्रदेश के 2 जिलों से सेब की खरीद, हरियाणा तक लाना और खुदरा विक्रेताओं और कम्पनियों को वितरण करने का है। इस रिपोर्ट का दावा है कि:

> भले ही FHEL की पहुँच काफी कम सेब उत्पादन तक है (20 लाख टन प्रति वर्ष से कुछ अधिक), मगर इसके बावजूद FHEL की स्थापना के बाद से व्यापार में अनेकों बदलाव हुए हैं। पहले तो FHEL काफी पारदर्शी तरीक़े से काम करती है, जिससे कि सेबों की खरीद के समय हिमाचल के सभी किसानों को पहले ही दाम की जानकारी हो जाती है। इसके चलते एक पैमाना बन जाता है जिसके सहारे किसान व्यापारियों से सही मोलभाव कर पाते हैं। दूसरा, FHEL समय समय पर अपने खर्च पर वैज्ञानिकों को बागवानों के बीच ले जाती है जिससे बागवानों को फसल की गुणवत्ता और उत्पाद बढ़ाने में सहायता मिलती है। इसके अलावा FHEL कृषि के लिए ज़रूरी सभी सामग्री जैसे कि खाद, कीटनाशक, पैकेजिंग, औज़ार इत्यादि भी मुहैया कराती है।

इसी कड़ी में FCI (भारतीय खाद्य निगम, Food Corporation of India) का भी उदाहरण लाजमी है जो गेंहू और चावल की खरीद और वितरण की गारंटी लेकर दशकों से कई राज्यों में किसानों के एक बड़े वर्ग को न्यूनतम मूल्य सुनिश्चित करवाता है, पब्लिक डिस्ट्रीब्यूशन सिस्टम के लिए अनाज सुनिश्चित करवाता है और कुछ हद तक सूखे की स्थितियों में राहत देता है (यह और बात है कि पिछले 19 सालों से सरकारों ने इस संस्था को खोखला बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है)।

सरकारों को यह पता है (और विदेशी निवेशक यह खुल के कहते हैं) कि यदि सरकारी संस्थाओं के किसानों या उपभोक्ताओं के हित में किए गए हस्तक्षेप की जरा भी गुंजाइश रही तो विदेशी निवेशक इस क्षेत्र में हाथ नहीं डालेंगे। इन संस्थाओं के हस्तक्षेप से निवेशकों के उस मोटे मुनाफ़े को नुकसान हो सकता है, जिसके लिए विदेशी निवेशक यहाँ आना चाह रहे हैं। विदेशी निवेशकों का यह हठ ख़ुद में ही यह अंदेशा पैदा करता है कि कृषि–बाज़ार में उनके आने से क्या प्रभाव पड़ेगा।

क्या विदेशी निवेशक किसानों की मदद के लिए आना चाहेंगे?

सरकार हमें इस बात के लिए आश्वस्त करना चाहती है कि विदेशी कंपनियों के आने से किसान व्यापारियों और दलालों के चंगुल से छूट जाएँगे। लेकिन यह कम्पनियाँ कोई खैराती संस्थान तो हैं नहीं। अगर वे कभी इस स्थिति में हुए की वह बाज़ार पर प्रभुत्व बना सकें, चाहे विक्रेता के रूप में चाहे ख़रीदार के रूप में, तो अधिकतम लाभ ना कमाना तो उनके *वजूद को ख़तरे में डाल देगा क्यूँकि वही तो उनके अस्तित्व* का मूल मंत्र है। जैसे की यदि फसल नुकसान के दावों को एक क्षण के लिए मान भी लें तो इस बात की क्या गारंटी है कि नुकसान रुकने से जो लाभ होगा वह किसानों के हिस्से आएगा, ना कि कम्पनियों के हिस्से?

ऐडम स्मिथ[56] ने कहा था कि, " ऐसा नहीं है कि सेठ–व्यापारी की दया की वजह से भोजन हम तक पहुँचता है, बल्कि उनके स्वयं के स्वार्थ की वजह से भोजन हम तक पहुँचता है"।[57] हम साथ ही यह भी कह सकते हैं कि व्यापारियों की धृष्टता की वजह से किसान ग़रीब नहीं हैं, बल्कि सामाजिक उत्पादन (social production) में उनके नियत स्थान की वजह से, एक वर्ग दूसरे के श्रम का फ़ायदा उठा रहा है। इसलिए छोटे किसान की विवशता का और उसके पास पूंजी के अभाव का कम्पनी रूपी ख़रीदार आसानी से फ़ायदा उठा सकती है। और तो और, बड़ी कम्पनियों के अभाव में, विदेशी कम्पनियाँ भी किसानों के पास दलालों के ज़रिए ही जाएँगी।

जैसे ही इन कंपनियों के पैर खाद्य बाज़ार में जम जाएँगे, वे किसानों और उपभोक्ताओं पर प्रभाव की सुध लिए बिना अपनी अंतर्राष्ट्रीय व्यापारी रणनीतियों को लाना शुरु कर देंगी। अभी भी हम देख रहे हैं कि WTO[58] के ज़रिए भारतीय मार्केट खुलने के बाद अंतर्राष्ट्रीय खुदरा दामों का असर भारतीय खुदरा दामों पर पड़ता है; अन्तर्राष्ट्रीय दुकानों के यहाँ पर मज़बूत होने पर यह असर और भी ज़्यादा हो जाएगा। किसानों और कम्पनियों के मोलभाव करने की अलग अलग क्षमता होने के कारण यह प्रभाव बराबरी से नहीं पड़ेगा: अन्तर्राष्ट्रीय दामों में गिरावट भारतीय किसान की जेब से जाएगी मगर अंतर्राष्ट्रीय दामों में जो उछाल होगा उसका लाभ उसे नहीं मिलेगा। दूसरी तरफ़ अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में भाव बढ़ने पर विदेशी दुकानें सामान को बाहर भेजने लगेंगे जिससे उपभोक्ताओं के लिए दाम बढ़ जाएँगे। यह व्यापार की खुली छूट होने पर मुनाफ़ा बहुत होने की सम्भावना ही है जो विदेशी निवेशकों को आकर्षित करेगी और इसलिए वह यह सुनिश्चित करना चाहेंगे कि सरकार भारतीय उत्पादकों या उपभोक्ताओं के हित में हस्तक्षेप ना करे, और ना ही कर सके।

सरकारें हस्तक्षेप करने से इसलिए भी कतराएँगी क्योंकि इस प्रक्रिया में सरकार ने बाज़ार में हस्तक्षेप करने की अपनी संपूर्ण व्यवस्था को नेस्तनाबूद कर दिया होगा। और तो और एक बार सरकार विदेशी दुकानों को कुछ छूट दे देंगी तो उनपर विदेशी निवेशकों और विदेशी सरकारों का दबाव रहेगा कि उन्हें कम ना करें। हमने देखा है की वोडाफ़ोन जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से वैध कर वसूलने की सरकारी कोशिश पर, वहाँ जहाँ भारतीय करदाता को ठगने के लिए उसने बहुत गोलमाल वाले काम किए, विदेशी निवेशकों (और स्वयं ब्रिटेन के प्रधान मंत्री) का इतना दबाव पड़ा कि सरकार ने लगभग जवाब दे दिया और दुम दबा के बैठ गई।

कृषि और किसान को विभाजित करना

वास्तविकता में, कृषि–उत्पादों की ख़रीद और बिक्री में पूर्णतः विदेशी प्रवेश होगा तो बड़े खेतों की ज़रूरत होगी जहाँ पर वह कम्पनी के निवेशकों व निर्यात की ज़रूरतों के अनुसार उत्पाद का सही समरूपीकरण

56 Adam Smith, अठारहवीं सदी के एक अंग्रेज़ अर्थशास्त्री, जिनके कार्य को मुक्त–बाज़ार की सोच का आधार माना जाता है।

57 अंग्रेज़ी में: "It is not from the benevolence of the butcher, the brewer or the baker that we expect our dinner, but from their regard to their own interest".

58 विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organization).

(standardisation) व निरीक्षण कर सकें। नीति आयोग के एक हाल ही की रिपोर्ट ने मौजूदा लघु स्तर पर हो रही कृषि की आलोचना में कहा है कि:

> अब जबकि कम्पनियाँ कृषि में निवेश करके घरेलू व वैश्विक बाज़ार में उभरती सम्भावनाओं का फ़ायदा उठाने को तैयार हैं, तो यह वक़्त आ गया है कि नीतियाँ बदली जाएँ जिससे कि इस क्षेत्र में एक अच्छे व्यवसाय का माहौल तैयार हो। छोटे पैमाने पर की जाने वाली खेती इस क्षेत्र की बढ़ोत्तरी में एक भारी बाधा रही है और इसी वजह से ज़्यादातर भारतीय किसान उच्च–मूल्य वाली खेती में प्रवेश नहीं कर पाए हैं।[59]

आयोग का यह पर्चा शासक वर्ग के दृष्टिकोण का प्रमाण है, जिसमें खेती का सवाल किसानों के सवाल से अलग करके देखा जाता है, और किसानों को तो खेती के विकास में बाधा की तरह देखा जाता है। यह पर्चा मांग करता है कि (i) कॉर्पोरेट क्षेत्र को APMC को दरकिनार कर किसानों से सीधे उत्पाद खरीदने की संपूर्ण आजादी (इसके नतीजतन किसानों को महज एक ही खरीदार के सामने अपनी फसल बेचनी होगी) (ii) MSP (न्यूनतम समर्थन मूल्य, Minimum Support Price) को हटाकर PDP (मूल्य की कमी पर भुगतान, Price Deficiency Payment) को लाया जाए जिसमें यह प्रावधान होगा कि खुदरा दामों में गिरावट के समय किसानों को कुछ सहयोग राशि दी जाएगी (यह सरकारी खरीद की संपूर्ण व्यवस्था को धराशाही कर देगा) (iii) बटाई के कानूनों में संशोधन करके किसानों से किराए पर ली गई जमीनों को एक कानूनी दर्जा दिया जाए।

हालाँकि नीति आयोग ने इस तर्क को माना कि बटाई के नियमों में बदलाव से "छोटे और गरीब किसानों को सम्भवतः नुकसान होगा और ज़मीन पर उनकी पकड़ कम हो जाएगी" मगर इसके जवाब में आयोग ने बताया कि इससे "ज़्यादा उत्पादक खेत बनने से अधिक आय वाले रोज़गार आएँगे, जिससे कि छोटे और ग़रीब किसानों को सम्भव है कि एक बेहतर जीवन मिलेगा"। इसमें कोई शक नहीं कि अधिक आय वाले रोज़गार कुछ लोगों के लिए आएँगे, पर इससे छोटे व ग़रीब किसानों को क्या फ़ायदा होगा यह साफ़ नहीं है।[60]

---

59 "कृषि–पैदावार बढ़ाना एवं खेती को किसानों के लिए फ़ायदेमंद बनाना", सामयिक पर्चा, नीति आयोग, भारत सरकार (Raising Agricultural Productivity and Making Farming Remunerative for Farmers", Occasional Paper, NITI Aayog, Government of India), दिसम्बर 2015. http://niti.gov.in/writereaddata/files/document_publication/RAP3.pdf

60 ऊपर दिए गए संदर्भ से।

V. किसानों के दावों से सरकार को बचाती बीमा–योजना

केन्द्रीय बज़ट से पहले सरकार ने एक नई बीमा योजना घोषित की – प्रधानमंत्री फ़सल बीमा योजना (PMBFY)। इसे मोदी सरकार के कृषि–क्षेत्र में एक प्रमुख कार्यक्रम के रूप में प्रचारित किया गया – एक बिल्कुल ही बदल देने वाले कार्यक्रम के रूप में, किसानों की आत्महत्याओं की समस्या के हल के रूप में, नीतियों में एक व्यापक किसान–समर्थक बदलाव के रूप में, और इसी तरह से और भी।

किसानों के बीमाकरण के औचित्य पर तो शायद ही सवाल उठाए जा सकते हैं। किसानों के जीविका–अर्जन में भारी असुरक्षा है। क्यूंकि वे समाज के अन्य वर्गों की तुलना में प्राकृतिक प्रक्रियाओं से ज्यादा जुड़े हुए हैं, वे प्रकृति में निहित अनिश्चितता से अधिक प्रभावित होते हैं। भारत में, जहाँ 60 प्रतिशत खेती बारिश पर निर्भर करती है, सन् 2000 के बाद पांच बार सूखा पड़ चुका है। बहुत सारी अन्य विपदाएं भी आई हैं जिनसे होने वाला नुकसान अरबों–खरबों में जाता है। 2015 में ही, साल की शुरुआत 14 राज्यों में असमय बारिश से हुई, विशेष रूप से उत्तर–पश्चिम में; जुलाई में राजस्थान, गुजरात, और पश्चिमी मध्यप्रदेश में बाढ़ आई; अगस्त में बंगाल में कोमन नामक चक्रवात आया और बिहार और असम में बाढ़ आई; और साल का अंत दक्षिण भारत में (विशेषकर चेन्नई में) बाढ़ से हुआ।

क्योंकि किसान बाज़ार में छोटे खिलाड़ी होते हैं, उनपर बाज़ार की ऊंच–नींच का ज्यादा प्रभाव पड़ता है, और यह ऊंच–नींच उनके हाथ से बाहर होती है। 2012–2013 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार ज्यादातर किसानों को आजीविका चलाने में दिक्कत होती है, खासकर कि तब अगर कृषि से बाहर कोई आमदनी नहीं है।

इसमें कोई सवाल ही नहीं कि किसानों को हर तरह की प्राकृतिक और अप्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षा चाहिए। सवाल है, कैसे।

PMBFY की असली महत्ता उसकी पुरानी योजनाओं से तुलना करने में नहीं है, ना ही कि उसमें और क्या सुधार सम्भव है, इसमें। हालाँकि सरकार यह कहानी गढ़ना चाहती है कि PMBFY किसानों की "समस्याओं" का हल है, पर वास्तव में इसका उद्देश्य राज्य को किसानों को आपदा और संकट से बचाने की ज़िम्मेदारी से मुक्त करना है। राज्य की नव–उदारवाद नीतियों के अनुसार ही यह समस्याओं का "बाज़ार आधारित समाधान" प्रचारित करती है, पर वह समस्याओं को हल ही नहीं करेगी। ऊपर से यह बीमा–क्षेत्र के निजीकरण की तरफ एक बड़ा कदम लेती है, और इस तरह एक बड़े और सुनिश्चित बाज़ार को निजी हाथों में सौंप देती है।

मोटी रूपरेखा

पहले तो योजना का थोड़ा विवरण। 2016–17 के बजट में योजना के तहत 5,500 करोड़ रुपए आवंटित किए गए; इतना ही राज्य–सरकारों से आना था। बल्कि 2016–17 के दौरान, सरकार ने 13,320 करोड़ रुपए इस योजना पर खर्च किए। प्रधानमंत्री ने घोषणा की है कि अगले दो सालों में वह देश के 50 फीसदी

किसानों को योजना के अन्तर्गत लाना चाहते हैं। उन्होंने इंटरनेट पर ट्वीट भी किया कि यह सरकार का लोहरी/पोंगल/बीहू के मौके पर किसानों को "तोहफा" है।

कॉर्पोरेट मीडिया से इस योजना को काफी समर्थन मिला (जबकि ज्यादतर कॉर्पोरेट मीडिया किसी भी तरह की रियायत या किसानों के लिए विशेष प्रावधान – जैसे कि निर्देशित बैंक ऋण, उर्वरकों पर रियायत, रियायती बिजली, आदि – के विरोध में रहते हैं)। यह भी कहा जा रहा है कि मौजूदा कृषि–बीमा योजना से यह कई मायनों में बेहतर है। कृषकों के द्वारा देय बीमा किश्त कम हो कर नियत राशि का 1.5 प्रतिशत (रबी फसल के लिए), 2 प्रतिशत (खरीफ़ फसल के लिए), व 5 प्रतिशत (वाणिज्यिक फसलों व बागबानी के लिए) हो गई है। सरकार द्वारा दी जाने वाली छूट की कोई ऊपरी सीमा नहीं है; अगर शेष बीमा किश्त 90 प्रतिशत भी है, तो भी सरकार उसे वहन करेगी।

पहले कुल बीमा किश्त की दर पर ही एक ऊपरी सीमा थी, इसलिए छूट पर होने वाला सरकारी खर्च अपने आप सीमित हो जाता था। इस वजह से कुल बीमित राशि भी कम थी, और इस वजह से किसानों को मिलने वाला कुल मुआवजा भी कम था। यह सीमा अब हट गई है, और इसलिए बीमित राशि फसल के वास्तविक दाम जितनी हो सकती है। अब, ऐसा कहा जा रहा है, कृषक को पूरी फसल पर बीमा मिलेगा, और इसलिए बीमा कंपनी पूरी बीमांकित दर वसूल करेगी (यानी दावों की संभावना की सारी साँख्यिकी को समझ के। बीमित राशि का निर्धारण पिछले सात सालों की औसत उपज का गुणन न्यूनतम समर्थन मूल्य से करके होगा। योजना प्राकृतिक आपदाओं से होने वाले नुकसान की भरपाई करेगी, चाहे वह कम उपज से हुआ हो; बुआई में बाधा से हुआ हो; या फ़अल काटने के बाद। यह भी कहा जा रहा है कि नुकसान की भरपाई में तेजी के लिए "तकनीकी" का प्रयोग किया जाएगा, शायद मतलब है कि मोबाइल से तस्वीरें लेंगे आदि।

वर्तमान योजना किसानों का फायदा करे न करे, यह *बीमा कंपनियों* के लिए पुरानी योजानों की तुलना में कहीं ज़्यादा आकर्षक है।(इससे समझ आता है कि कॉर्पोरेट मीडिया का रवैया इसके प्रति इतना दोस्ताना क्यों है)। सरकार ने PMFBY के लिए दस निजी कंपनियों को सूचीबद्ध किया है, और साथ ही में कुछ सरकारी कंपनियों को भी (एग्रीकल्चर इंश्योरेंस कम्पनी ऑफ इंडिया एवं चार और सरकारी बीमा कंपनियों को)।[61] एक क्षेत्र/क्षेत्र–समूह में एक ही कंपनी काम करेगी, और इस तरह से मुक्त बाजार के महिमामंडित सिद्धांत को नकार दिया गया है। सारांश में ऐसा प्रतीत होता है कि कंपनियों को एक आबद्ध बाजार सरकार द्वारा आश्वस्त मुनाफे की दर पर दे दिया गया है।

और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि, *योजना केवल प्राकृतिक कारणों से होने वाले नुकसान की बात करती है, सबसे जरूरी अप्राकृतिक कारण – बाजार में भाव का गिरना – उसकी बात भी नहीं करती*। वास्तविकता में तो काफी बार ऐसा होता है कि किसानों को अच्छी फसल होने पर भारी नुकसान उठाना पड़ता है। पिछले दो साल

61 न्यू इन्डिया एश्योरेन्स, नेशनल इंश्योरेंस, ओरिएंटल इंश्योरेंस, और यूनाईटेड इंडिया इंश्योरेंस।

(2014–2015 और 2015–2016) के सूखे में तो हमने और भी अजीब बात देखी : पैदावार में गिरावट के बावजूद फसल के भाव में गिरावट। ऐसा इसलिए था क्योंकि मांग में भारी कमी थी। अगर सरकार को किसानो की आमदनी बचानी होती तो वह भावों की ऊंच–नींच और बाज़ार की और अस्थिरताओं के विरुद्ध एक सम्पूर्ण बीमा योजना लाते। मगर ऐसी कोई कोशिश 'मुक्त–बाज़ार' की अवधारणा, जो कि वैश्विक पूंजी के द्वारा नियत है, के विरुद्ध होती। (हम 'मुक्त–बाज़ार' को उद्धरण में रख रहे हैं क्योंकि इन योजनाओं का एक अभिन्न अंग कंपनियों और विदेशी निवेशकों को आश्वस्त मुनाफ़ा भी पहुंचाना है, वह भी बिना किसी प्रतिस्पर्धा या बाज़ारू अनिश्चितता के।)

सबसे गरीब तबकों – काश्तकार किसानों और साझा किसानों – को PMBFY से कैसे लाभ मिलेगा यह कतई भी साफ़ नहीं है: ज्यादातर समझौते मौखिक होते हैं, कोई काश्तकारी अधिकार भी नहीं मिलता, और इसलिए किसान के पास जमा करने के लिए कोई कागज़ात भी नहीं होते। ज़ाहिर है, यह कमियां प्राकृतिक आपदाओं में सरकारी मुआ़वजे की मौज़ूदा योजनाओं में भी हैं।

बीमा का व्यापक महत्व

जब हम आम तौर पर 'बीमा' शब्द सुनते हैं तो हमें बीमा कंपनी द्वारा बेची जाने वाली बीमा पॉलिसी ध्यान में आती है। पर यह बात समझना जरूरी है कि बीमा का स्वरूप एक वित्तीय अनुबंध हो यह भी जरूरी नहीं है।

तो फिर आखिर बीमा है क्या? अगर अंग्रेजी शब्दकोश में इंश्योरेंस (insurance) यानी बीमा का मतलब तलाशेंगे तो मिलेगा "निश्चित करना या गारंटी देना", यानी "ऐसी परिस्तिथियां आने से रोकने के उपाय करना जो हानि, क्षति या मुश्किलें पैदा करती हों", "बीमा कंपनी को नियमित भुगतान के जरिए नुकसान, चोरी, संपत्ति को क्षति, या किसी व्यक्ति के चोट लगने या मृत्यु होने कि दशा में एक नियत धनराशि के भुगतान की व्यवस्था करना"[62]।

यानी कि बीमा करने का सार है किसी व्यक्ति या समूह को किसी प्रतिकूल घटना के ज़ोखिम से बचाना; और ऐसा करने के कई तरीक़े सम्भव हैं। एक तरीक़ा है कि घटना घटने से पहले ही उसे रोक लिया जाए; जैसे कि बाढ़ आने से बचाने के लिए वनों की कटाई रोक सकते हैं, या आग से बचाने के लिए इमारतों को अग्निरोधक बनाया जा सकता है। बीमा का एक और तरीका हो सकता है किसी घटना से हो सकने वाले नुक़सान को कम से कम करने की कोशिश की जाए: जैसे कि इमारतें ऐसी बनाई जा सकती हैं कि वह भूकंप का सामना कर लें,

62 अंग्रेज़ी में कहेंगे तो, "to make sure or secure; to guarantee", "to take measures to try to prevent an event leading to loss, damage, difficulties, etc." एवं, "to arrange for the payment of an amount of money in the event of the loss or theft of or damage to property or injury to or death of a person, etc by paying regular amounts of money to an insurance company".

नदी के बाढ़–ग्रसित क्षेत्र पर निर्माण रोक सकते हैं, सूखे से बचने के लिए गांव के तालाबों का निर्माण और रखरखाव किया जा सकता है।

बचत भी एक तरह का बीमा ही है – अपनी कमाई से बचत करके लोग आम–तौर पर खुद को प्रतिकूल माहौल से बचाते हैं। एक गांव के द्वारा बचा कर रखा गया अनाज कम फ़सल वाले साल के लिए एक बीमा है। किसी इमारत में रहने वाले लोग आमतौर पर समिति बना कर विभिन्न दुर्घटनाओं से निपटने के लिए एक आपातकालीन निधि (sinking funds) भी रखते ही हैं|

नागरिकों को शारीरिक दुर्घटना से बचाने के लिए कार्यवाई करना यह किसी भी राज्य की जिम्मेदारी है। (दरअसल, लॉक (Locke) द्वारा प्रतिपादित राज्य के बुर्जुआ सिद्धांत के अनुसार राज्य और वहाँ के नागरिकों के बीच एक क़िस्म का सामाजिक अनुबंध होता है – एक तरह का बीमा जिसके तहत नागरिक अपने कुछ अधिकार राज्य को सौंपते हैं ताकि किसी दुर्घटना के वक़्त राज्य उनकी हिफ़ाज़त कर सके।) इससे भी आगे, क्यूंकि राज्य कुछ मूलभूत सामान और सेवाएँ नागरिकों को पहुंचाने की जिम्मेदारी लेता है इसलिए भी प्रतिकूल घटनाओं से क्षति सीमित ही होती है। जैसे कि, मुफ्त और सार्वभौमिक स्वास्थ्य योजना के होने से पैसा न होने कि वजह से इलाज न करा पाने से एक तरह का बीमा हो जाता है। अनाज की सरकारी खरीद किसानों का बाज़ार में भाव गिरने की वजह से होने वाले नुकसान से बीमा है, और सार्वजनिक वितरण प्रणाली नागरिक उपभोक्ताओं का गरीबी की वजह से न्यूनतम पोषण ना पा पाने से बीमा है। दरअसल विश्व–बैंक (World Bank) जैसे संगठन सार्वजनिक वितरण जैसी प्रणालियों को "सुरक्षा तंत्र" ("safety net") कहकर ही संबोधित करते हैं और बीमा का मतलब भी तो वही है।

मतलब यह है कि आजकल भले ही बीमा शब्द का मतलब केवल एक व्यक्ति और एक लाभ–केन्द्रित कंपनी के बीच में होने वाले *वित्तीय अनुबंध* से हो, यह केवल *एक तरह* का बीमा है, और सबसे बेहतर तरह का भी नहीं। इस अनुबंध में एक पूंजीवादी कंपनी एक व्यक्ति को किसी विशेष नुकसान या दुर्घटना होने पर धनराशि देने का वादा करती है। यह धनराशि, भले ही कुछ ना होने से बेहतर हो, पर निश्चित रूप से बेहतर है कि अगर संभव हो तो दुर्घटना या नुकसान होने ही ना दिया जाए। साथ ही यह सार्वजनिक कोशिशों से भी निचली है, क्यूंकि वे *व्यक्तियों* के पास पैसा होने, या बीमा कराने की दूरदर्शिता होने, या कि कितनी जल्दी और आसानी से कंपनी दावे को निपटाती है इसपर निर्भर नहीं करती।

और यह भी साफ़ होना चाहिए कि बीमा *पॉलिसी* के लिए कोई बीमा पर खर्च नहीं करता। बीमा कराने वाला पॉलिसी के दस्तावेज़ न खा सकता है न ही उनसे एक ढही हुई इमारत फ़िर से खड़ी कर सकता है। उद्देश्य यह है कि दावे निपटने चाहिए, यानी कि नुक़सान या दुर्घटना होने पर वास्तव में मुआ़वजा मिलना चाहिए। इसलिए कि कितने लोगों को बीमा मिला, यह योजना के प्रभाव को आँकने का सही पैमाना नहीं हो सकता। इसके लिए यह देखना चाहिए कि जब जरूरत होती है तो क्या बीमा वास्तव में उन्हें बचा पाता है।

शत्रुतापूर्ण रिश्ता

वित्तीय बीमा, भले ही उसका प्रचार 'विश्वास', 'सुरक्षा' या 'भागीदारी' जैसे शब्दों से होता है, वास्तविकता में एक *शत्रुतापूर्ण* रिश्ता है। एक बीमा कंपनी का फ़ायदा ऐसे निर्धारित होता है: बीमा किश्त से होने वाली कमाई, इन किश्तों को विभिन्न (जैसे कि बांड, शेयर आदि) में निवेश कर देने से होने वाली कमाई और इसमें दावे की भरपाई करने से होने वाला खर्च और कुछ प्रशासनिक/पारिचालन में होने वाला खर्च (यानि फ़ायदा = किश्त + निवेश से होने वाला फ़ायदा – दावों की भरपाई – रोजाना के खर्चे)। कोई भी लाभ–केन्द्रित कंपनी इसमें हर बात को अपने फ़ायदे के लिए व्यवस्थित करेगी। वह विभिन्न घटनाओं के होने की सम्भावना का आंकलन करके निर्धारित करती है कि उस स्थिति में बीमा करें भी या नहीं, और अगर करें तो बीमा किश्त कितनी लें ताकि लाभ अधिक से अधिक हो; वह सबसे फ़ायदे वाले निवेश करने की कोशिश करती है; और वह कोशिश करती है कि प्रशासनिक खर्चे कम से कम हों। और, यह महत्वपूर्ण है, वह दावों की कम से कम भरपाई कर पाने की भी कोशिश करेगी।

इस रिश्ते के शत्रुतापूर्ण होने के प्रमाणों में कोई कमी नहीं है। कंपनियाँ ऐसी पॉलिसी बेच देती हैं जो बीमित व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं हैं और इस वजह से कई बार पॉलिसी निरस्त हो जाती है, कंपनी के लिए फ़ायदा और बीमा धारक के लिए नुकसान। वे उन स्थितियों में या व्यक्तियों का बीमा करने से बचती हैं जो उनके आंकलन में अधिक जोखिम वाली हैं। वे ऐसी पॉलिसी भी बेच देती हैं जो असली जरूरत के समय किसी काम की नहीं हो। सिद्धांत यह है कि अगर कोई कंपनी बदनाम हो जाएगी तो उसके प्रति ग्राहक नहीं आकर्षित होंगे, पर विकसित देशों में भी ग्राहकों के पास जानकारी और विभिन्न कंपनियों और पॉलिसियों को मूल्यांकित करने की क्षमता की कमी होती है, और इसलिए अकसर ही वे इन चक्करों में नुकसान करा बैठते हैं; बीमा पॉलिसी की चेतावनियाँ तो किस्सों का विषय बन चुकी हैं, जॉन ग्रिशम[63] के उपन्यासों का मानो केन्द्र। विकसित देशों में तो बीमा कम्पनियों ने निवेश करने में भी लापरवाही बरती है, और ज्यादा ज़ोखिम वाले निवेश करके बीमाधारकों को वित्तीय खतरे में डाला है।

भारत में गलत जीवन–बीमा पॉलिसियों को 2005–12 के बीच कई कंपनियों द्वारा बहुतायत से बेचा जा रहा था और उस वजह से बहुत सारी पॉलिसियाँ निरस्त हुई हैं, जिससे कि ग्राहकों को 1.5 – 1.6 लाख करोड़ रुपए का नुकसान हुआ, और कंपनियों के फ़ायदे और बीमा एजेंटों की आमदनी में इजाफा हुआ[64]। इस कांड

63 John Grisham, एक अमेरिकी उपन्यासकार जिनके कई उपन्यास कानूनी दांव–पेंच पर आधारित हैं।

64 मानिका हलन, रेणुका साने, सुसन थॉमस, "खोए हुए खरबों की बात: गलत बेची गई बीमा पॉलिसी से ग्राहकों को हुए नुकसान का अनुमान" (Monika Halan, Renuka Sane, Susan Thomas, "The case of the missing billions: Estimating losses to customers due to mis–sold life insurance policies"), https://ifrogs.org/PDF/insurance–misselling_jepr.pdf

के चलते बीमा विनियामक (रेगुलेटर) को कई बीमा योजनाओं के लिए नियम–कायदे बनाने पड़े पर कंपनियों पर कोई गंभीर कार्यवाई नहीं हुई। (निजी कंपनियों के काम करने के तरीके की इतनी बुरी हालत है कि 2001 में निजी कंपनियों के बीमा–क्षेत्र में आने के बाद लोगों का बीमा योजना में आना कम हो गया। 2001 तक बीमा की पैठ — माने सकल घरेलू उत्पाद का कितना प्रतिशत बीमा किश्त है — में हो रहे इजाफे में बदलाव आ गया और वह गिरने लगा। जीवन बीमा की पैठ 2006 के बाद बहुत तेजी से गिरी है और अब 2002 के स्तर पर है, वहीं सामान्य बीमा की पैठ भी एक निचले स्तर पर ठहरी हुई है।[65]) अभी इस तरह से गलत पॉलिसी बेचने की समस्या कृषि–बीमा में नहीं आएगी क्योंकि अभी एक ही पॉलिसी उपलब्ध है, पर इस अनुभव से कंपनियों का शत्रुतापूर्ण रिश्ता और प्रतिस्पर्धापूर्ण हरकतें साफ़ हैं।

नुकसान हो तो जनता का, और फ़ायदा हो तो निजी क्षेत्र में जाए

किसानों को बचाने के लिए सरकार द्वारा फ़सल बीमा लाने के लिए कंपनियों की सहायता लेने का कोई तुक नहीं बनता है। हाँ, निजी बीमा कंपनियों को रियायतें देने के लिए इस तरीके का बिल्कुल तुक बनता है।

वर्तमान योजना के अनुसार, निजी (और कुछ सार्वजनिक) बीमा कंपनियाँ किसी विशेष क्षेत्र में एक मौसम (छह महीने) या दो मौसम (एक साल) के लिए बीमा–रक्षा देने के लिए बोली लगाएंगी। अगले मौसम या साल में बीमा–रक्षा देने की कोई ज़िम्मेदारी नहीं है। कंपनियों को साँख्यिकीय आधार पर बोली लगानी है – माने ऐसी बोली जिससे दुर्घटनाओं की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए भी यह लाभकारक हो। किसान नियत राशि का 1.5 प्रतिशत (रबी फसल के लिए), 2 प्रतिशत (खरीफ़ फसल के लिए), व 5 प्रतिशत (वाणिज्यिक फसलों व बागबानी के लिए) बीमा किश्त के रूप में देंगे, बाकी किश्त केन्द्र व राज्य सरकार बराबर से बांटेंगीं।

अब अगर निजी कंपनियों को अच्छी बारिश की आशा है, जिससे की अच्छी फ़सल ज्यादा होती है, वे उचित किश्तों की बोली लगा के नीलामी जीत लेंगी। क्योंकि अच्छी बारिश के सालों में किसान भरपाई के कम दावे करेंगे, निजी कंपनियों को निश्चित मुनाफा होगा। इस तरह से PMBFY के अंतर्गत 2016 खरीफ के मौसम में कंपनियों ने बीमा किश्त के रूप में 16,130 करोड़ रुपए जमाए, जबकि दावे कुल इस राशि के केवल 60–70 प्रतिशत थे[66]। महाराष्ट्र में लगभग 4000 करोड़ बीमा किश्त के रूप में जमा हुआ जबकि केवल 2000 करोड़ के दावों का भुगतान किया गया[67]। एक बीमा कंपनी के लिए यह बहुत बढ़िया मुनाफ़ा है। वहीं अगर बीमा कंपनी

65 भारतीय बीमा विनियामक और विकास प्राधिकरण (IRDAI), वार्षिक रिपोर्ट, 2014–2015

66 राजलक्ष्मी निर्मल, "फसल बीमा योजना को सही करने की जरूरत है", हिंदू बिज़नेस लाइन (Rajalakshmi Nirmal, "Fasal Bima Yojana needs fine tuning", Hindu Business Line), 6/4/2017.

67 नम्रता आचार्य, "समय सीमा को बढ़ाने से फ़सल बीमा योजना को नुक़सान होता है", बिज़नेस स्टैंडर्ड (Namrata Acharya, "Extended cut–off dates hurt crop insurance scheme", Business Standard), 8/4/2017. शीर्षक का आवेदन

को लगता है कि बारिश खराब होगी तो वह या तो बोली लगाएगी ही नहीं या फिर जानबूझ कर इतनी ऊंची बीमा किश्त की बोली लगाएगी कि उसका ना जीतना तय है। जैसे कि 2017 खरीफ के मौसम में बारिश कम होने की उम्मीद है और इसलिए कंपनियाँ बच निकलना चाहती हैं। महाराष्ट्र में इस साल की नीलामी में, जो मार्च 2017 में हुई, ज्यादातर निजी कंपनियों ने बहुत ऊंची बोली लगाई और जिससे वह बाहर निकल गईं।[68] इस वजह से पाँच क्षेत्र–समूहों में नीलामी सार्वजनिक कंपनियों ने जीती, और सिर्फ एक क्षेत्र–समूह में नीलामी निजी कंपनी ने जीती।

इस तरह से, लाभ तो निजी कंपनी का होता है और नुकसान सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों का। अगर सार्वजनिक कंपनियां भी बीमा नहीं करेंगी तो किसानों को बीमा मिलेगा ही नहीं।

जिस शत्रुतापूर्ण रिश्ते की ऊपर बात कर रहे थे उसी क्रम में बीमा कंपनियाँ यह भी कह रही हैं कि योजना में सूचीबद्ध होने की समय–सीमा ज्यादा देर तक है: उस समय तक यह मालूम हो जाता है कि मॉनसून की बारिश कैसी होगी।[69] इसके बावजूद कंपनियाँ कोशिश कर रहीं हैं कि किश्त के 100% के ऊपर किसी भी दावे का भार सरकार उठाए – योजना में निहित "नुकसान हो तो जनता का, फायदा हो तो निजी" सिद्धांत का और भी सीधा स्वरूप। हालाँकि अलग क्षेत्रों और फ़सलों के लिए जीतने वाली बोलियों में काफी विविधता है, पर फिर भी उनके अन्तर्गत बीमा किश्त काफी ऊंची हो सकती है। कुछ उदाहरण नीचे तालिका में दिए गए हैं। क्यूंकि किसान के लिए तय बीमा किश्त के हिस्से (जो कि 1.5 से 5 प्रतिशत के बीच में है) से ऊपर का भुगतान केन्द्र और राज्य की सरकार करतीं हैं, अंत में यह निजी क्षेत्र को जनता से दी जाने वाली रियायत है।[70]

बेकार का है क्योंकि बीमा कंपनियों ने खरीफ 2016 के मौसम में भी भारी मुनाफा कमाया जबकि अच्छी बारिश होने की सम्भावना सबको मालूम थी, और वह हुई भी।

68 "most private players quoted exorbitantly high rates and outpriced themselves.", राजलक्ष्मी निर्मल, ऊपर दिए संदर्भ से।

69 नम्रता आचार्य, ऊपर दिए संदर्भ से।

70 कुछ आलोचकों का कहना है कि कुल बीमा ज़्यादा होने पर, मान लीजिए कृषि–भूमि के 50 प्रतिशत होने पर, बीमा किश्त की दर में कमी आएगी। यह बात सच है कि कुल बीमा कम होने पर बीमा किश्त की दर ज़्यादा होती है, कुछ इस कारण से की जो लोग शुरुआत में बीमा लेते हैं जिन्हें जोखिम की आशंका ज़्यादा होती है (इसे "विपरीत चुनाव" यानी "adverse selection" भी कहते हैं)। साधारणत: जैसे जैसे सभी कुछ बीमा के अन्तर्गत आने लगता है, वैसे वैसे जोखिम कम होने लगता है। पर भारत में मौजूदा फ़सल बीमा योजना में यह स्थिति नहीं लगती। बल्कि, मौजूदा स्थिति में कुल बीमा का संबंध सार्वजनिक बैंकों द्वारा दिए जाने वाले क़र्ज़ से जुड़ा हुआ है : किसानों के लिए बैंकों से क़र्ज़ लेते वक़्त फ़सल बीमा ख़रीदना ज़रूरी है। इसलिए यह मुश्किल है कि कुल बीमा बढ़ने पर नुक़सान कम होगा।

तालिका 5: कुछ फ़सलों की बीमा दर, प्रति क्षेत्र–समूह (नियत बीमा राशि के प्रतिशत के रूप में)		
राज्य	फ़सल	सर्वाधिक किश्त
बिहार	धान	35
गुजरात	कपास	25
कर्नाटक	अरहर (सिंचाई)	17.8
कर्नाटक	अरहर (बिना सिंचाई)	46.7
महाराष्ट्र	कपास	22
महाराष्ट्र	प्याज़	16.1
मध्य प्रदेश	सोयाबीन	30
ओढ़िसा	धान	13.3
राजस्थान	ग्वार	48
उत्तर प्रदेश	धान	12.8
पश्चिम बंगाल	आलू	20
सभी ख़रीफ़ की फ़सल हैं सिवाए प्याज़ (महाराष्ट्र) और आलू (बंगाल) जो रबी की फ़सल हैं। स्रोत: http://agri–insurance.gov.in/Login.aspx		

तब सरकार को फ़सल बीमा के लिए एक निजी कम्पनी की सेवा किराए पर लेने की ज़रूरत क्यूँ है? वह अपने संसाधनों से लाभ का अन्दाज़ लगा कर भी तो दावों की भरपाई कर सकती है। या फिर वह सार्वजनिक बीमा कम्पनियों को यह काम करने का निर्देश दे सकती है और उनके काम पर रियायतें (सब्सिडी) दे सकती है।

निजी कम्पनियों के पक्षधर बोलते हैं कि निजी बीमा कंपनियाँ काम को सरकारी और सार्वजनिक कम्पनियों के कर्मचारियों की अपेक्षा ज़्यादा जल्दी और कुशलता से करेंगी। पर इसके विपरीत बीमा कंपनियों के लिए कम दावे चुकाने का काफ़ी प्रलोभन है; वास्तव में तो बीमा कंपनियों में निजी बीमा कंपनियाँ सार्वजनिक बीमा कंपनियों की अपेक्षा काफ़ी ज़्यादा दावे निरस्त कर देती हैं।[71] शायद यह इस वजह से हो रहा है कि केवल लाभ कमाने की अपेक्षा समाजसेवा करने की संस्कृति थोड़ा बहुत सार्वजनिक कंपनियों में रह जाती है।

71 भारतीय बीमा विनियामक और विकास प्राधिकरण (IRDAI), ऊपर दिए संदर्भ से। जहाँ सार्वजनिक LIC ने केवल 1.2 प्रतिशत दावे निरस्त रखे और 0.5 प्रतिशत दावे नहीं निपटाए, सभी निजी बीमा कंपनियों का निरस्तीकरण या ना निपटा पाने की दर काफ़ी ज़्यादा थी; ऍडेल्वीस टोकियो (Edelweiss Tokyo) की सबसे ज़्यादा थी – 37.8 प्रतिशत निरस्त किए और 5 प्रतिशत दावे नहीं निपटाए। सामान्य बीमा में भी कुछ ऐसे ही हालात हैं।

इसलिए बेहतर आर्थिक कुशलता के आधार पर सरकार ने PMBFY की संरचना की हो ऐसा तो नहीं है।

अमेरिकी और भारतीय फ़सल बीमा योजनाओं की तुलना

भारतीय फ़सल बीमा योजना की अमरीकी योजनाओं से तुलना उपयोगी है। जबकि अभी वहाँ पर लगभग सारी ही कृषि–भूमि का बीमा होता है, तब भी उसे अमेरिकी सरकार से भारी रियायत (सब्सिडी) मिलती है। जैसे की भारत की नई योजना में है, फ़सल बीमा अमेरिका में (वहाँ वह ना केवल उपज बल्कि *आमदनी* का भी बीमा करते हैं!) भी रियायतों और नियत लाभ बीमा कंपनियों को देने पर केंद्रित हैं। वहाँ भी 1994 तक, जबकि रियायतें बहुत बढ़ा दी गईं, कृषि–भूमि के एक छोटे हिस्से का ही बीमा होता था। अमेरिकी कृषि विभाग (US department of agriculture, USDA) किश्त का 60 प्रतिशत देता है, कोई ऊपरी ख़र्चा भी, और साथ में किसी प्रलयंकर नुक़सान का हिस्सा भी। कुल रियायत 80 प्रतिशत तक आँकी गई है।[72] इसके चलते फ़सल बीमा अमरीकी कंपनियों के लिए बहुत फ़ायदेमंद है; USDA के द्वारा करवाए गए एक अध्ययन के अनुसार 2000–08 के बीच में अमेरिका में फ़सल बीमा पर औसत फ़ायदा 18.9 प्रतिशत था, जबकि अंदाज़न एक "उचित" दर 11.3 प्रतिशत थी।[73]

अमेरिकी फ़सल बीमा योजना को भारत के लिए आदर्श घोषित करने से पहले यह समझना ज़रूरी है कि भारत और अमेरिका के किसानों की हालात में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। अमेरिका में 12.5 करोड़ हेक्टेअर भूमि पर खेती पर केवल 21 लाख खेत हैं। इनमें भी ज़्यादातर खेतों पर वाणिज्यिक स्तर पर खेती होती है: 15 लाख खेतिहर परिवारों में 25% से कम घरेलू आमदनी कृषि से होती है। खेतों में बड़े खेत(200 हेक्टेअर से ज़्यादा वाले) कुल 11 प्रतिशत ही हैं पर उनमें 71 प्रतिशत ज़मीन है; 2 प्रतिशत खेतों में 34 प्रतिशत ज़मीन है।[74]अमेरिका में फ़सल बीमा पर रियायतों और अन्य रियायतों से भी फ़ायदा ज़्यादातर बड़े खेतों को मिलता है और ऐसी ज़मीन जहाँ विशाल औद्योगिक स्तर पर खेती होती हो, तेज़ी से बढ़ रही है।[75]

---

72 ब्रूस A. बैब्काक, "अमेरिकी फ़सल बीमा उद्योग के स्वास्थ्य की जाँच", आयोवा एजी रिव्यू (Bruce A. Babcock, "Examining the Health of the US Crop Insurance Industry", Iowa Ag Review), Fall 2009.

73 मिलिमान, इंक., "प्रतिफल दर का ऐतिहासिक विश्लेषण", रिस्क मैनज्मेंट एजेन्सी, युएसडीए (Milliman, Inc., "Historical Rate of Return Analysis", Risk Management Agency, USDA), 2009. http://www.rma.usda.gov/pubs/2009/millimanhistoricalrate.pdf (back)

74 जेम्स एम. मॉकडोनाल्ड, पेन्नी कोर्ब, और रॉबर्ट ए. होप्पे, अमेरिकी फ़सलों के खेतों के आकार और उनकी व्यवस्था, युएसडीए एकनामिक रीसर्च सर्विस (James M. MacDonald, Penni Korb, and Robert A. Hoppe, Farm Size and the Organization of U.S. Crop Farming, USDA Economic Research Service), 2013.

75 ऊपरी संदर्भ।

वास्तव में फ़सल बीमा अमेरिका में रियायतों के संजाल का एक छोटा सा हिस्सा ही है। मूल्य हानि बीमा (Price Loss Coverage) उत्पादकों को आश्वस्त करता है, कृषि में जोखिम का बीमा (Agriculture Risk Coverage) आय को बचाता है, विपणन ऋण सहायता (Marketing Loan Assistance) ज़्यादातर खेती से निकलने वाले सामान का न्यूनतम मूल्य तय कर देता है; और सबसे बड़ी योजना, पूरक पोषण सहायता कार्यक्रम (Supplemental Nutrition Assistance Program, जिसे पहले Food Stamp program) का एक सीधा और निर्दिष्ट उद्देश्य अधिशेष कृषि–उत्पाद को निपटाना भी है। 2000 में 7400 करोड़ डॉलर (लगभग पौने पाँच लाख करोड़ रुपया) से बढ़ कर यह रियायतें 2012 में 14,000 करोड़ डॉलर (लगभग नौ लाख करोड़ रुपया) हो गई और इसका और भी बढ़ना तय है।[76] यह रियायतें कुल मिलाकर लगभग 65,000 डॉलर (लगभग 4.15 लाख रुपया) प्रति खेत होती है। अमेरिका में खेतिहर घरों की औसत घरेलू आय सभी घरों की औसत घरेलू आय से बहुत ऊंची है, और यह बड़े, वाणिज्यिक खेतों में और भी है।

दूसरी तरफ़ देश में, 2012–13 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार, लगभग 9 करोड़ खेतिहर घर हैं। यह भी अन्दाज़ लगता है कि लगभग 10.9 करोड़ जोत हैं जिनका औसत क्षेत्रफल 0.9 हेक्टेअर है। इसमें से 73 प्रतिशत बहुत छोटे हैं (1 हेक्टेअर से कम), 15 प्रतिशत छोटे हैं (1–2 हेक्टेअर के बीच में), और 8 प्रतिशत लगभग बीच में हैं (2–4 हेक्टेअर के बीच में), और यह ही मिल कर 75 प्रतिशत ज़मीन हो जाते हैं। काफ़ी किसानी काश्तकारी में है, और वह भी ज़्यादातर मौखिक है। आदिवासी क्षेत्रों में जंगल में ज़मिनों के एक बड़े हिस्से का मालिकाना हक़ अभी तक नहीं मिला है।

फ़सल बीमा योजना को भारत में इस असंगठित क्षेत्र के माहौल में काम करना है जो कि अमेरिका से बहुत अलग है। निश्चित रूप से भारतीय किसान अमेरिकी किसानों की तुलना में बीमा कंपनियों से दावे स्वीकार करा पाने में बहुत ज़्यादा कमज़ोर हैं। ऊपर से, फ़सल बीमा के ज़रिए *अमेरिकी सरकार और रियायतें देती है, ना केवल बीमा उद्योग को, बल्कि बड़े किसानों को भी, और उसके लिए अपने आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव का प्रयोग करके विश्व व्यापार संगठन (WTO) के क़ायदों का भी या तो उल्लंघन करती है या उन्हें मरोड़ देती है*; और इसके चलते किसानों को कम पैसा देने का कोई दबाव नहीं है, भले ही ख़र्च ज़्यादा है। उसकी तुलना में भारत सरकार न ही ऐसा प्रभाव रखती है और ना ही ऐसा करना चाहती है, और इसलिए कृषि में *रियायतें कम करने के बिलकुल ही उलटे रास्ते पर है, बिना उसके परिणामों की चिंता किए*। इसलिए फ़सल बीमा योजना कृषि में रियायतें बढ़ाने का तरीक़ा बिलकुल ही नहीं होगा।

वास्तव में यूरोपियन यूनियन, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और थाईलैंड ने यह इशारा किया है कि वह भारत की प्रस्तावित फ़सल बीमा योजना को व्यापार विकृत करने वाली रियायत मानेंगे और इसलिए उसे WTO के

76 विश्वजीत धर, रोहन किशोर, "अमेरिकी कृषि रियायतों की सच्चाई", एकनॉमिक एंड पालिटिकल वीकली (Biswajit Dhar, Roshan Kishore, "Reality of US Farm Subsidies", Economic & Political Weekly), 13/2/2016.

नियमानुसार कृषि उत्पादन के 10 प्रतिशत के दायरे में रहना होगा। (भारत इसपर व्यापार–विकृति का ठप्पा लगाने से बहुत ही प्रतिबंधक शर्तें माँ कर बचा: मुआवज़ा देने के लिए कमसेकम 30 प्रतिशत फ़सल का नुक़सान होना चाहिए और इसे एक प्राकृतिक विपदा घोषित करना होगा।) यह सम्भव है कि सरकार यह समस्या अलग रियायतें, जिनमें खाद्य सुरक्षा भी है, कम करके सुलझा ले और उसे प्रत्यक्ष नकदी हस्तांतरण (direct cash transfer) के ज़रिए सुलझा ले – वास्तव में सरकार ने इस दिशा में क़दम लिए हैं।

PMBFY **क्यों**?

PMBFY के लिए असली कारण फिर उत्पादकों को आपदा से प्रभावी सुरक्षा देना नहीं है, और ना ही ऐसी सुरक्षा देने का एक आर्थिक रूप से दक्ष तरीक़ा तलाशना है। वास्तव में PMBFY का वास्तविक फ़ायदा यह है कि इससे सरकार को किसानों को विभिन्न संकटों में सीधे–सीधे बचाने की ज़िम्मेदारी से हाथ धोने में मदद मिलेगी।

नवउदारवाद की नीतियों के अनुसार ही विभिन्न पार्टियों की सरकारें कृषि के विभिन्न पहलुओं में सीधे हस्तक्षेप या सहायता से बच रही हैं और उन्हें बाज़ार–आधारित निवारण में बदल रहीं हैं। जैसे कि, सार्वजनिक कृषि विस्तार सेवा ख़त्म कर के सरकार ने यह क्षेत्र निजी विस्तार सेवाओं के लिए छोड़ दिया, यानी कि स्थानीय निवेशक व्यापारी के अंतर्गत आने वाले निजी निगमों के लिए। सार्वजनिक बैंकों द्वारा दिए जाने वाली उधारी में जो कमी रह जाती है उसे अतिशय ब्याज दर पर निजी क्षेत्र द्वारा दिया जाने वाला लघु–ऋण (माइक्रो–क्रेडिट, micro–credit) पूरा करता है। वह योजनाएँ या संस्थाएँ जो सरकारी ख़रीद के ज़रिए किसानों द्वारा मजबूरन बिक्री को रोकती थीं वह ज़्यादातर ख़त्म कर दी गई हैं, और उनकी जगह सरकार कम्पनियों द्वारा सीधी ख़रीद को बढ़ावा दे रही है।

सरकार के किसानों के प्रति ग़ैर–ज़िम्मेदाराना रवैये के बावजूद वह आपदा की हालत में राहत, चाहे सीधे हो या आर्थिक, पहुँचाने की ज़िम्मेदारी से बच नहीं पा रही थी। इस वजह से उसे किसानों के लोकतांत्रिक आंदोलनों का भी सामना करना पड़ रहा था, चाहे वह ख़रीद को लेकर, मुआवज़े को लेकर, या राहत पहुँचाने को लेकर।

जैसे की 2004 में संप्रग (UPA) की सरकार एक बड़े कृषि–संकट के बीच में आइ, वह भी नाराज़ किसानों के वोटों के चलते। इस वजह से उसे अपनी उन पुरानी नीतियों से (थोड़ा) पीछे हटना पड़ा जिनके चलते अनाज में सरकारी ख़रीद, बैंकों की किसानों को उधारी और कृषि में सरकारी निवेश में भारी कमी आई थी। और अभी हाल ही में प्रधानमंत्री ने ख़ुद मनरेगा (MNREGS) का संसद में मज़ाक़ उड़ाया और 2014–15 के सूखे के बीच भी उसपर होने वाले ख़र्चे में भारी कमी कर दी, पर उसके बाद मोदी सरकार को इस बात से पीछे हटना पड़ा और उसने मनरेगा के ख़र्चे को (थोड़ा ही, और अपर्याप्त) बढ़ाया।

संगठित किसान अभी भी सरकार को राहत और मदद का ज़िम्मेदार मानते हैं। 2015–16 से थोड़े उदाहरण लें तो: अक्टूबर 2015 में पंजाब सरकार को किसान संघों द्वारा एक विस्तृत आंदोलन का सामना करना पड़ा,

जिसमें एक काफ़ी लम्बा रेल–रोको अभियान भी शामिल था, और जिसकी माँग थी कपास की खेती में व्हाइट–फ़्लाई (whitefly) के चलते हुए तबाही का मुआवज़ा; इसके चलते राज्य–सरकार की भारी निंदा भी हुई। मार्च 2016 में कर्नाटक के दसियों हज़ारों किसानों ने राज्य की राजधानी बेंगलुरु में प्रदर्शन किया, और शहर की मुख्य सड़कें जाम कर दीं। नासिक (महाराष्ट्र) में दसियों हज़ारों किसानों ने मुख्य सड़कें और चौराहे कर्जामाफ़ी, सूखे में बेहतर राहत कार्य और नष्ट फ़सलों के एवज़ में ₹50,000 प्रति एकड़ मुआवज़े की माँग करते हुए अप्रैल 2016 में जाम कर दिए। यह संघर्ष बिलकुल जायज़ हैं क्योंकि किसानों को बचाने की ("बीमा कराने की") ज़िम्मेदारी अंततः सरकार की है, चाहे वह निवारक उपाय ले या फिर मुआवज़ा दे।

PMBFY के चलते सरकार किसानों से यह कह सकती है की किसानों की इन दिक्कतों को हल कर दिया गया है और उन्हें बीमा कंपनियों की तरफ़ भेज सकती है। फ़सल बीमा इस तरह से नवउदारवाद का एक राजनैतिक बीमा है, और निजी क्षेत्र को दी जाने वाली एक राजनैतिक रियायत भी।

यह बिलकुल वही है जो राज्य सार्वजनिक स्वास्थ्य के साथ कर रहा है: नीति आयोग के उपाध्यक्ष अरविंद पनगढ़िया के अनुसार "सकल घरेलू उत्पाद के मात्रा तीन–चौथाई प्रतिशत में", 0.76 प्रतिशत में अगर विधिपूर्वक बोलें, "तो सरकार नीचे से आधे लोगों में कम से कम एक साधारण स्वास्थ्यसेवा पहुँचा सकती है", जिसके चलते, "कोई और आवंटन मुफ़्त में करने का कारण नहीं रह जाता है"। जैसा कि स्वास्थ्य के दो विशेषज्ञों ने इस पर कहा, "विकल्प की ऐसी सोच सार्वजनिक सेवाओं और प्रक्रियाओं के ख़त्म होने का अंततः कारण बनते हैं, और इससे पहले से ही कम स्वास्थ्य पर होने वाले सार्वजनिक ख़र्चे में गिरावट आएगी।[77]

और निजी स्वास्थ्य बीमा करने वालों की तरह ही, निजी फ़सल बीमा करने वाले भी हँसते हुए अपनी बैंक तक जाएँगे।

जिस बीमा की भारतीय कृषि को ज़रूरत है

भारतीय कृषि को बीमा की ज़रूरत है, पर वित्तीय बीमा की नहीं। उसे एक ऐसे राज्य की ज़रूरत है जो कृषि को भारतीय अर्थव्यवस्था के *आधार* के रूप में देखे, और पूरी कृषि की *ज़िम्मेदारी ले*, जिसमें सबसे ज़रूरी है, कृषि में काम करने वालों की ज़िम्मेदारी लेना। यानी कि एक ऐसे राज्य की जो स्थायी और पर्याप्त उत्पादन के लिए ज़रूरी बातों का किसानों के प्रजातांत्रिक संगठनों के साथ मिलकर प्रावधान करे, और सुनिश्चहित करे कि उचित सिंचाई और भूमिवर्धन में सार्वजनिक निवेश होगा, कृषि से जुड़े कामों में वित्तीय सहायता मिलेगी, कृषि में अनुसंधान और विस्तार के लिए लोगों का सम्पूर्ण सार्वजनिक ढाँचा तैयार करे, कृषि सामग्री सस्ते दामों पर उपलब्ध कराए, ख़रीद ऐसे दामों पर सुनिश्चित करे जो जायज़ हों, और *इस तरह के प्रणालिगत और सम्पूर्ण "बीमा" के तहत,* दाम गिरने या उपज कम होने पर कुछ मुआवज़े का भी प्रावधान करे। (यह मुआवज़ा वित्तीय

77 इमरान क़ादिर, सौरिंदर मोहन घोष, "सर्वजनिका स्वास्थ्य प्रग्णालय में है" (Imrana Qadeer, Sourindra Mohan Ghosh, "Public health's in the infirmary"), Hindu Business Line, 19/4/16.

अनुबंध से जुड़ा हुआ नहीं भी हो सकता है।) मुफ़्त, सार्वभौमिक और पर्याप्त स्वास्थ्य एवं शिक्षा सेवाओं का उपलब्ध होना, और भोजन की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए एक क़ायदे से काम करती हुई सामाजिक वितरण प्रणाली का होना भी इसी सम्पूर्ण बीमा के तहत आएगा। ऐसा इसलिए है कि इनमें होने वाले ख़र्चे कृषि में संकट के प्रमुख कारण हैं।

एक अनुत्पादक दान होने से कहीं अलग, ऐसा सम्पूर्ण बीमा देश की खाद्य सुरक्षा की गारंटी के लिए ज़रूरी है और देश के सबसे बड़े रोज़गार के काम के योग्य होने के लिए भी। यह औद्योगिक उत्पाद की घरेलू माँग बढ़ाने के लिए भी बहुत ज़रूरी है। सारांश में, यह राष्ट्र के विकास के किसी भी कार्यक्रम का ज़रूरी हिस्सा है।

मगर ऐसा कुछ भी नहीं होने वाला है। उलटा आज ऐसी किसी भी बात, जो इस तरह की सम्पूर्ण सहायता दे सके, के लिए आवंटन बहुत ही कम है; सरकार का लक्ष्य है कि जो थोड़ा बहुत बचा भी है उसे ख़त्म करना। और इसलिए किसान ना केवल प्रकृतिक विपदाएँ झेल रहे हैं बल्कि योजनाबद्ध, मानव–निर्मित विपदाएँ भी। इस माहौल में काग़ज़ी अनुबंध को छोटे या मध्यम किसानों में बाँटना एक निर्दयी मज़ाक़ है।

VI. खेती–किसानी को 'बाज़ारू ताकतों' के हवाले करने की एक विनाशकारी नीति

नवउदारवादी विचारधारा (Neoliberalism) का मुख्य मंत्र है – 'मुक्त' बाज़ार। ऐसा बाज़ार जो किसी भी तरह की संगठित सामाजिक शक्ति (फिर चाहे वह राज्य की हो, या फिर ट्रेड यूनियन या अन्य लोकप्रिय सामाजिक संगठनों की) के हस्तक्षेप से आज़ाद हो। इस विचारधारा का मानना है कि एक 'मुक्त' बाज़ार ही संसाधनों का बंटवारा (आवंटन) कुशलतापूर्वक करता है। ऐसे में कोई आश्चर्य की बात नहीं कि किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में आने वाली तमाम दिक्कतों या परेशानियों को हल करने का नवउदारवादी नुस्खा एक मुक्त–बाज़ार की दिशा में ही 'सुधार' सुझाता है। ऐसे सुधार जो कि यह मांग करते हैं कि राज्य अर्थव्यवस्था को संभालने व सार्वजनिक निवेश करने की अपनी जिम्मेदारी से पीछे हटे व इसे बाज़ार के हवाले कर दे[78]। समस्याओं को हल करने का यह नवउदारवादी नुस्खा अर्थव्यवस्था के तमाम अन्य क्षेत्रों की ही तरह कृषि क्षेत्र के लिए भी विनाशकारी है।

लेख के इस भाग में हम आगे संक्षेप में इन बिंदुओं पर विचार करेंगे: क्या कारण रहे कि पहले भारतीय कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश और हस्तक्षेप की जरूरत पड़ी; आज के समय में नवउदारवादी शक्तियों द्वारा सार्वजनिक निवेश व हस्तक्षेप के बचे हुए अवशेषों को खत्म करने की कोशिश; संपूर्ण उदारीकरण अवधि में पहले से ही हुए विनाशकारी असर; सार्वजनिक निवेश का महत्व; व खासतौर पर जलवायु परिवर्तन के दौर में सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश और संस्थानों का महत्व।

ऐसा नहीं है कि भारतीय कृषि के लिए बाज़ारी शक्तियां कोई नई बात हों। लाखों छोटे किसान व उत्पादक अपने उत्पादों का एक हिस्सा या पूरी उपज ही निजी व्यापारियों को बेचते हैं। यह निजी व्यापारी इस उपज को आगे बढ़ाते हुए खुदरा विक्रेताओं को बेच देते हैं। इन सभी के हाथों से गुजरते हुए ये उत्पाद अंतत: आम उपभोक्ताओं तक पहुंचते हैं। शायद ही कभी कोई ऐसा दिन गुजरता हो जबकि अखबारों में यह खबर ना हो कि फलानी फसल के लिए किसानों को मिलने वाली कीमतें गिर गई हैं, या फिर उपभोक्ताओं को दालों या सब्जियों के लिए ज्यादा कीमतें देनी पड़ रही हैं। इसके अलावा, घरेलू बाजारी शक्तियां अब बाहरी शक्तियों के साथ जुड़ गई हैं: WTO के

78 लेकिन, नवउदारवादी अर्थशास्त्री ऐसा हरगिज नहीं चाहते कि राज्य कामगारों की अवैध हड़तालों को दबाने, किसानों से जबरन जमीन दिलवाने व ऐसी ही अन्य अव्यस्थाओं के दौरान "कानून व्यवस्था" बनाए रखने की अपनी जिम्मेदारी छोड़े। दरअसल, नवउदार शासन के तहत राज्य को इन गतिविधियों को और तेज करने के लिए कहा जाता है। चिली देश, जिसे शायद नवउदारवाद की पहली प्रयोगशाला कहा जाए, इस बात का सबसे पुख्ता उदाहरण है। 1973 की तख्ता पलट के बाद सत्ता पर बैठी एक सैन्य तानाशाही ने मुक्त–बाजार की नीतियों को लागू करने के लिए सभी लोकप्रिय संगठनों व आंदोलनों को दबा दिया। आज के भारत में भी, नवउदारवादी नीतियों के आगमन के बाद पुलिस व अर्द्धसैनिक बलों के शासन के तहत आने वाला क्षेत्र काफी बढ़ गया है।

बाद भारतीय कृषि बाज़ार को बाहरी शक्तियों के लिए खोलने के चलते वैश्विक बाज़ार में उत्पादों की कीमतों का सीधा असर भारतीय किसानों को मिलने वाली कीमतों पर पड़ता है।

लेकिन फिर भी ऐसे कई महत्वपूर्ण क्षेत्र बचे हुए हैं जिनमें अभी भी राज्य की दखल है; मसलन कृषि के लिए जरुरी संसाधन, कृषि–ऋण, बिक्री की प्रक्रिया, खरीद मूल्य, भंडारण व परिवहन और भूमि अधिकार।

1. उर्वरक की कीमतों को तय करने व उपलब्ध करवाने में सरकार का दखल है। राज्य गैर–यूरिया उर्वरकों पर भी सब्सिडी प्रदान करता है, हालांकि उनकी कीमतें तय नहीं करता।

2. बैंकों के द्वारा दिए गए कर्ज में से सरकार कृषि के लिए एक कोटा तय करती है, व इन ऋणों के लिए ब्याज की दरें तय करती है।

3. पिछले 25 सालों में कृषि के लिए प्रासंगिक संस्थानों और कर्मचारियों की संख्या को खत्म करने की नीति के बावजूद सार्वजनिक क्षेत्र की कृषि अनुसंधान और विस्तार गतिविधि आज भी बनी हुई है।

4. सरकार कभी–कभी बीज की कीमतों को विनियमित (regulate) करने में भी हस्तक्षेप करती है, जैसे कि हाल ही में कपास की आनुवंशिक रूप से संशोधित किस्मों की कीमतों के साथ हुआ।

5. सरकार कई फसलों के लिए न्यूनतम खरीद मूल्य निर्धारित करती है, हालांकि चावल, गेहूं, कपास और गन्ने के मामले में ही यह नीति प्रभावी रूप से है।

6. सरकार निश्चित फसलों के लिए न्यूनतम निर्यात मूल्य (Minimum Export Prices, MEP) निर्धारित करती है; MEP में वृद्धि से निर्यात में कमी आ सकती है, जिसके चलते घरेलू आपूर्ति में वृद्धि और घरेलू कीमतों में गिरावट आ सकती है।

7. अभी भी अधिकांश राज्यों में यह कानून है कि कृषि उत्पाद विपणन समिति (AMPC) के अहातों में ही फसलों को बेचा जाए, हालांकि यह व्यवस्था कई राज्यों में खत्म हो रही है।

8. आवश्यक वस्तु अधिनियम–1955 के चलते राज्य सरकारें कृषि उत्पादन के भंडारण, परिवहन, मूल्य, वितरण व प्रसंस्करण (processing) पर प्रतिबंध लगाने में समर्थ हैं।

9. सभी राज्यों में भूमि के मालिकाना हक पर सीमाएं है। कई राज्यों में ऐसे भी कानून हैं जो उन किसानों के हितों की रक्षा करते हैं जो किराया देकर दूसरे की जमीनों पर खेती कर रहे हैं। यह कानून बेदखली से बचाव व किराए के रूप में दिए जाने वाले कृषि उत्पाद के हिस्से के निर्धारण से जुड़े हुए हैं। साफ तौर पर यह नियम–कानून जमीन मालिकों के उन 'अधिकारों' के आड़े आते हैं जिनमें वह किसानों से बाज़ार निर्धारित किराया ले सकें व लीज खत्म होने की स्थिति में जमीन पर अधिकार जमा सकें।

10. विभिन्न राज्यों में कानून हैं जो अनुसूचित क्षेत्रों में गैर–आदिवासियों को आदिवासी भूमि के हस्तांतरण पर रोक लगाते हैं। वन अधिनियम अब भी ग्राम पंचायत की सहमति के बिना वन भूमि के अधिग्रहण पर रोक लगाता है।

राज्य का हस्तक्षेप: किसान–संघर्ष के जवाब स्वरूप

एक सहज सवाल मन में उठता है कि आखिर ऐसे नियम व कानून किन परिस्थितियों में अस्तित्व में आए होंगे? क्या यह महज हमारे पुराने शासकों के समाजवादी उत्साह की एक अभिव्यक्ति थी, जैसा कि नव–उदारवादी अर्थशास्त्री हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं? नहीं, ऐसा कहना कतई सही नहीं। मुख्य तौर पर देखें तो यह तमाम नियम व कानून ऐतिहासिक किसान संघर्षों–आंदोलनों व साथ ही कीमतों में बढ़ोत्तरी व भोजन की कमी के चलते आम लोगों के द्वारा किए गए लोकप्रिय आंदोलनों के ही प्रत्यक्ष या परोक्ष नतीजे हैं। इन संघर्षों को शांत करने या उपजने ना देने के लिए ही भारतीय राज्य को मजबूरन यह सुरक्षात्मक ढ़ांचा खड़ा करना पड़ा।

यह नीति औपनिवेशिक शासन के तहत ही शुरू हो चुकी थी। 1875 के दक्कन विद्रोह के मद्देनजर, जो किसानों की जमीनों को कर्ज देने वालों द्वारा हड़पने के चलते उत्पन्न हुआ था, अंग्रेजों ने सोचा कि उन परिस्थितियों में यही सही होगा कि ऐसे कानून बनाए जाएँ जो सूदखोरी व भूमि अधिग्रहण पर लगाम लगाएं। अंग्रेजों की इस नीति की अभिव्यक्ति 1879 के दक्कन आश्रमवासी राहत अधिनियम , 1900 के पंजाब अधिग्रहण अधिनियम, 1918 के उदारीकृत ऋण अधिनियम, 1930 के पंजाब विनियमन अधिनियम, 1933 के ऋण सुलह अधिनियम, 1938 की मद्रास किसान राहत अधिनियम, व इसी तरह के अन्य नियमों में देखी जा सकती है। यह एक अलग मामला है कि अंततः किसानों ने इन कानूनों से थोड़ा ही लाभ उठाया; मुद्दा यह है कि एक औपनिवेशिक राज्य ने ऐसे कदम उठाना जरूरी समझा।

आधुनिक भारत ने किसान–संघर्ष की तीन महान तरंगों को देखा है: 1930 के दशक की वैश्विक मंदी के दौर में (जिस दौरान कृषि उत्पादों की कीमतों में गिरावट आई और किसान तबाह हो गए) शुरू हुए जमीन के किराए और करों के खिलाफ आंदोलन; द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत बाद की अवधि में सामंतवाद के खिलाफ उपजा महान विरोध (तेलंगाना, तेभागा, वारली विद्रोह, किशनगढ़); और 1960 के दशक के उत्तरार्ध – 1970 के दशक के शुरूआती वर्षों में उपजा किसान विद्रोह (नक्सलबाड़ी, श्रीकाकुलम, मिदनापुर, मुजफ्फरपुर आदि)। यह इन संघर्षों का ही परिणाम था कि 1947 के बाद के भारतीय राज्य ने जमीन–मालिकों के लिए भू–सीमा तय की, बिचौलियों को समाप्त कर दिया और किराएदारों को बेदखली और अत्यधिक किराए से बचाने के कानून पारित किए। इसके अलावा, यह जरूरी किया गया कि व्यापारी APMC के अहातों में ही किसानों से उनकी फसल खरीद सकते हैं ताकि किसानों को धोखाधड़ी से बचाया जा सके।

इनके अलावा कई राज्यों में अन्य महत्वपूर्ण किसान व लोकप्रिय जन–आंदोलन भी हुए, जैसे कि 1959 व 1966 में पश्चिम बंगाल में हुए खाद्य आंदोलन। ऐसे आंदोलनों के दबाव के चलते व इस डर से कि कहीं दोबारा

से किसान हिंसक ना हो जाएँ, अतीत में शासकों ने किसानों के पक्ष में कुछ कदम उठाना जरूरी समझा। इन कानूनों से संघर्षों के पीछे की बुनियादी समस्या, भूमि संबंध, तो हल नहीं हुई लेकिन इनके चलते किसानों के साथ हो रही नाइंसाफ़ी पर एक कानूनी लगाम लगी और कुछ राहत मिली।

1949 के बाद, भारतीय शासकों और उनके अमेरिकी सलाहकारों की नींदें खास तौर पर चीनी क्रांति ने उड़ाए रखी थी। 1960 के दशक में, शासकों ने बड़े ही स्पष्ट तरीके से अपने इस डर को व्यक्त किया कि उस समय की किसानों के उत्थान की लड़ाई कहीं "लाल क्रांति" ना बन जाए, और एक बार फिर उस संघर्ष को तेज होने से रोकने के लिए कदम उठाए[79]। एक साक्षात्कार में, पश्चिम बंगाल के एक वरिष्ठ किसान नेता बिनोय कोनार 1960 के दशक के संदर्भ को याद करते हुए कहते हैं:

> 1965 में, चावल, चीनी और केरोसिन बाजार से गायब हो गए। जिस कारण लोगों ने कांग्रेस सरकार के खिलाफ बड़े पैमाने पर प्रदर्शन किए। प्रदर्शन इतने तीव्र और व्यापक थे कि कांग्रेस के लोग अपने घरों से बाहर आने में भी असमर्थ थे। यह 1965–66 में था, जब गुलजारीलाल नंदा केंद्रीय गृह मंत्री थे। वह कलकत्ता आए, जेल गए, और प्रमोद दासगुप्ता, ज्योति बसु और हरे कृष्ण कोनर के साथ चर्चा की। उन्होंने राशन तंत्र की शुरूआत के लिए अपनी सरकार के इरादे के बारे में कृषक सभा [किसान संगठन] के नेताओं को सूचित किया, और ग्रामीण इलाकों में असंतोष को दबाने में उनका सहयोग मांगा। उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि सभी राजनीतिक कैदियों को रिहा किया जाएगा। जून 1966 के आसपास, हम सभी को जेल से रिहा कर दिया गया।[80]

भू–सीमाएं घटा दी गईं, व सरकार ने ऐसा माहौल बनाया कि लगे कि वह भूमि के सवाल को लेकर चिंतित है। श्रीकाकुलम गिरिजन (आदिवासी) सशस्त्र संघर्ष के मद्देनजर, आंध्र प्रदेश ने 1970 में भूमि हस्तांतरण नियमन अधिनियम को पारित किया, जिससे आदिवासियों की जमीन गैर–आदिवासियों को हस्तांतरित करने पर रोक लग गई।

यही वह समय था जिसके आसपास सरकार ने कृषि मूल्य आयोग (Agricultural Prices Commission) की स्थापना की, ताकि फसलों के लिए खरीद मूल्यों की सिफारिश की जा सके। इसके साथ ही सरकार ने किसानों से अनाज की खरीद, उसके भंडारण व नियंत्रित कीमतों पर उपभोक्ताओं को वितरित करने के लिए भारत खाद्य निगम (Food Corporation of India) की भी स्थापना की। जुलाई 1969 में इंदिरा गांधी ने नाटकीय रूप से 14 वाणिज्यिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया; इसका एक प्रभाव जो सामने आया वह था कम ब्याज दरों पर कृषि

---

79 भारत के कई स्थानों पर बढ़ती कृषि अशांति की समस्या को हल करने के लिए 1971 में इंदिरा गांधी द्वारा आयोजित मुख्य मंत्रियों के एक सम्मेलन में तत्कालीन गृह मंत्री वाई. बी. चव्हाण ने उल्लेखनीय रूप से टिप्पणी की कि भारत सरकार "हरित क्रांति को लाल क्रांति बनने नहीं देगी।"

80 अपराजिता बक्शी, "पश्चिम बंगाल में भूमि सुधार को संदर्भ में रखना: बेनोय कोनार का साक्षात्कार", रिव्यू ऑफ ऐग्रेरियन स्टडीज, (Aparajita Bakshi, "Contextualising Land Reform in West Bengal: An Interview with Benoy Konar", Review of Agrarian Studies), जुलाई–दिसम्बर 2014.

को बैंको से ऋण। इन उपायों से कृषि उत्पादन को बढ़ावा मिला व खाद्य वितरण को सुधारने में भी मदद मिली; वहीं परोक्ष रूप से इन उपायों से राजनीतिक अशांति के एक मुख्य कारण को दबा दिया गया।

कानून बनाकर व ऐसे ही अन्य संवैधानिक तरीकों से किसानों को शांत रखने की नीति के हालिया उदाहरण भी मिल जाते हैं। 2002–03 में, जंगलों में अपने भूखंडों (गोदावर्मन मामले में सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद) से आदिवासियों के बड़े पैमाने पर निष्कासन ने विभिन्न क्षेत्रों में जनजातीय किसानों के एक उग्र आंदोलन को बढ़ावा दिया। 2004 में सत्ता पर काबिज हुई यूपीए सरकार के साझा न्यूनतम कार्यक्रम में कहा गया:

> यूपीए विभिन्न राज्यों में अतिवादी हिंसा और अन्य प्रकार की आतंकवादी गतिविधियों के विकास से चिंतित है। यह केवल एक कानून–व्यवस्था की समस्या नहीं है, बल्कि एक बहुत गहरा सामाजिक–आर्थिक मुद्दा है जिस पर पहले की बजाए अब सार्थकता के साथ विचार किया जाएगा। आदिवासी क्षेत्रों के विकास को ध्यान में रखते हुए यूपीए सरकार तुरंत सभी रणनीति और कार्यक्रमों की समीक्षा करेगी ताकि कमजोरियों को दूर किया जा सके व आजीविका से संबंधित अधिक व्यावहारिक नीतियों पर काम किया जा सके। इसके अलावा, विकास परियोजनाओं द्वारा विस्थापित हुए आदिवासी और अन्य समूहों के लिए राहत और पुनर्वास की अधिक प्रभावी व्यवस्थाएं लागू की जाएँगी। अपनी भूमि से अलग हुए आदिवासियों का पुनर्वास किया जाएगा।

इस प्रकार 2006 का वन अधिकार अधिनियम[81], यूपीए की तरफ से आदिवासी किसानों के प्रति कोई उदारतापूर्ण कार्य नहीं था, बल्कि आदिवासी किसानों के संघर्ष का एक परिणाम था। 2013 के भूमि अधिग्रहण अधिनियम[82] का मामला भी इसी समान है: एक रिपोर्ट के अनुसार भारत के 664 जिलों में से 165 में 2013 से 2014 के बीच भूमि अधिग्रहण के मामलों में 250 से अधिक संघर्ष हुए[83]।

भूमि अधिग्रहण का प्रतिरोध इतना व्यापक हो गया था कि यूपीए सरकार के पास इस विरोध को शांत करने के किसी उपाए को खोजने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा था।

यहाँ हम और भी उदाहरण दे सकते हैं, लेकिन यह बात स्पष्ट है कि कृषि में राज्य के हस्तक्षेप से जुड़े तमाम नियम व कानून केंद्रीय योजनाकारों के दिमागों की उपज नहीं, बल्कि किसान आंदोलनों के जवाब स्वरूप राज्य के द्वारा मजबूरी में की गई ऐसी प्रतिक्रियाएं थीं जिनका लक्ष्य "ग्रामीण इलाकों में असंतोष को शांत करना" था।

---

81 पूरा शीर्षक: "अनुसूचित जनजाति एवं अन्य परंपरागत वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम (Full title: The Scheduled Tribes and Other Traditional Forest Dwellers (Recognition of Forest Rights) Act), 2006.

82 पूरा शीर्षक: " भूमि अधिग्रहण में उचित मुआवजा एवं पारदर्शिता का अधिकार, पुनर्वास एवं पुनर्स्थापन अधिनियम" (Full title: The Right to Fair Compensation and Transparency in Land Acquisition, Rehabilitation and Resettlement Act), 2013.

83 नितिन सेठी, "ज़मीन अधिग्रहण को लेकर 2013 एवं 2014 के बीच 250 विवाद दर्ज किए गए", बिज़नेस स्टैंडर्ड, (Nitin Sethi, "250 conflicts over land acquisition recorded in 2013 and 2014", Business Standard), 31/12/2014.

लेकिन, बहुराष्ट्रीय और घरेलू कृषि कंपनियों की नज़र लगातार इन सुरक्षात्मक उपायों पर है और इन्हें खत्म करने का कोई भी मौका वे जाने नहीं देना चाहते। तमाम नव–उदारवादी अर्थशास्त्री, जिन्हें पता है कि रोटी के किस ओर घी लगा है, लगातार इन नियमों व कानूनों को हटाने की सिफारिशें देते रहते हैं। बड़ी सरलता के साथ यह अर्थशास्त्री राज्य के हस्तक्षेप आधारित इन उपायों को ऐसे पेश करते हैं मानों यह 'किसानों' के लिए *बेड़ियों* समान हों: जो कि, उनके मुताबिक, अगर हटाई जा सकें तो कुशल किसान कामयाब होंगे, अकुशल किसान अपनी जमीनें दूसरे कुशल किसानों को किराए पर दे देंगे (और बदले में अन्य कहीं काम करते हुए किराया ले सकते हैं), उत्पादन बढ़ेगा, कीमतें घटेंगी और भी बहुत कुछ होगा। यह तमाम अर्थशास्त्री अपनी चतुराई से इस तथ्य को छुपा देते हैं कि असल में राज्य के हस्तक्षेप पर आधारित यह तमाम उपाय ख़ासतौर पर किसानों को जमींदारों, धनपतियों, व्यापारियों, और विदेशी व घरेलू पूंजी के हाथों हो सकने वाले शोषण व नतीजतन बर्बादी से बचाने के लिए ही हैं। वर्तमान कृषि संकट के पीछे का कारण यह उपाय नहीं बल्कि इन उपायों की कमी व अपर्याप्तता है। ऐसे उपायों को, जो कि वैसे भी किसानों को सीमित संरक्षण ही देते हैं, खत्म करने की माँग असल में *किसानों को ही खत्म करने की माँग* है।

आधिकारिक नीति : उपाय के रूप में और अधिक नव–उदार 'सुधार'

दरअसल कृषि कंपनियां व उनके अर्थशास्त्री जैसा दर्शाना चाहते हैं, वास्तविकता उसके ठीक विपरीत है। असल में समस्या यह नहीं है कि कृषि में राज्य का हस्तक्षेप बहुत अधिक है; बल्कि 'सुधार' के नाम पर पिछले 25 सालों के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश और राज्य के हस्तक्षेप का लगातार कम होना है। हालांकि, आधिकारिक अध्ययनों और प्रमुख मीडिया दोनों में, इस बात की सख्त मनाही है कि किसी भी समस्या की जड़ में व्याप्त नव–उदार 'सुधारों' पर सवाल उठाए जाएँ और उन्हें हटाने की मांग की जाए। बल्कि, सारी समस्याओं के हल स्वरूप यह अध्ययन व मीडिया मात्र यही सुझा सकते हैं कि *अधिक* सुधारों' की आवश्यकता है।

दिसम्बर 2015 के नीति आयोग (आधिकारिक नीति बनाने वाली संस्था जिसने हाल ही में प्लानिंग कमीशन की जगह ली है) के एक पर्चे[84] में यह बात सामने आई कि यह आयोग भारतीय कृषि के सामने आने वाली प्रमुख समस्याओं और उन्हें हल करने के लिए आवश्यक कदमों को किस तरह समझता है। इसी तरह *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) 2015–16 भी कृषि क्षेत्र की समस्याओं को सूचीबद्ध करता है व उन उपायों को भी सामने रखता है जो उसके मुताबिक कृषि में "परिवर्तन" लाने के लिए आवश्यक हैं। उल्लेखनीय रूप से देखें तो दोनों ही ऐसी कई समस्याओं की सूची बनाते हैं जो वास्तव में अपर्याप्त सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक

84 "कृषि–पैदावार बढ़ाना एवं खेती को किसानों के लिए फ़ायदेमंद बनाना", सामयिक पर्चा, नीति आयोग, भारत सरकार (Raising Agricultural Productivity and Making Farming Remunerative for Farmers", Occasional Paper, NITI Aayog, Government of India), दिसम्बर 2015.

क्षेत्र के घटते हस्तक्षेप का प्रत्यक्ष परिणाम है, लेकिन इस विफलता का बस नाम के लिए ही उल्लेख करते हैं[85]। निश्चित रूप से दोनों ही इसे एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में नहीं पहचानते हैं। बल्कि, दोनों ही नव–उदारवादी बाजार आधारित 'सुधारों' को कृषि संकट की गुत्थी को हल करने की कुंजी के रूप में पेश करते हैं।

इस तरह *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) में अन्य कई चीजों के अलावा इन विषयों पर बात की गई है:

– "*उचित मूल्य निर्धारण के जरिए* पानी के कुशलतापूर्वक उपयोग के लिए उपयुक्त तकनीकों को अपनाना";

– *उर्वरकों की कीमत बाज़ार तय करे* व इनके आयात से जुड़े कोई प्रतिबंध ना हों;

– उर्वरक सब्सिडी और अन्य कृषि सब्सिडी की जगह *नकद हस्तांतरण* की व्यवस्था बने;

– *कम दरों पर ब्याज की व्यवस्था के बजाए नकद हस्तांतरण*;

– कृषि में लगने वाले साधनों के अकुशल संचालन से जुड़ी *सब्सिडी खत्म* की जाए;

– कृषि उत्पादों व वस्तुओं के लिए एक *एकीकृत राष्ट्रीय बाज़ार* बनाना।

वहीं नीति आयोग सुझाता है

(i) *तकनीक पर अधिक जोर दिया जाए,* जिसमें कृषि मशीनरी और बीजों से जुड़ी प्रौद्योगिकी भी शामिल हैं, (आयोग "कृषि में उत्पादकता को बढ़ावा देने में GM तकनीक की क्षमता" पर जोर देता है)।

(ii) *कृषि अनुसंधान और प्रौद्योगिकी विकास में निजी क्षेत्र की अधिक भूमिका* ("केवल सार्वजनिक क्षेत्र कृषि की भविष्य की चुनौतियों और आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। कृषि अनुसंधान और प्रौद्योगिकी विकास में निजी क्षेत्र की भागीदारी के लिए अनुकूल वातावरण बनाने की आवश्यकता है।")

(iii) *नकद हस्तांतरण की व्यवस्था लाकर उर्वरक पर सब्सिडी हटाई जाए* व उन्हें आयातित मूल्य पर बेचा जाए, यहाँ मतलब आने वाले समय में सार्वजनिक क्षेत्र की उर्वरक इकाइयों को बंद करने से है। ("अगर हमारे पास ऐसे बाहरी विकल्प मौजूद हैं जिनसे हम इन घरेलू इकाइयों की तुलना में कम कीमतों पर उर्वरक खरीद सकते हैं तो ऐसे में इन घरेलू संयंत्रों के पुनरुद्धार की बात समझ नहीं आती। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का मूल सिद्धांत यह है कि हम उन वस्तुओं का उत्पादन करें जो हम सस्ते में बना सकते हों व अन्य दूसरे राष्ट्र वह सामान बनाएँ जिनका उत्पादन वे सस्ते में कर सकते हों, और फिर उन वस्तुओं का व्यापार हो। ")

85 आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2015–16 कृषि पर कुछ उपयोगी आँकड़े प्रदान करता है, व कुछ सही टिप्पणियां भी करता है। यह कृषि अनुसंधान और सूक्ष्म सिंचाई जैसे कुछ मदों पर सार्वजनिक खर्च में बढ़ोत्तरी की बात करता है। यह दालों के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्यों का अधिक सक्रिय रूप से उपयोग करने का सुझाव देता है। लेकिन यह मात्र अपवाद स्वरूप हैं। मुख्य रूप से, यह बाजार प्रभावित नीतियों की ही बात करता है।

(iv) *कृषि बाजार समितियों की जगह ऐसी व्यवस्था हो जिसमें कॉर्पोरेट किसान से सीधे खरीदी कर सकें,* अनुबंध खेती की व्यवस्था बने ("कॉर्पोरेट क्षेत्र कृषि व्यवसाय में निवेश करने के लिए उत्सुक है"), और खाद्य प्रसंस्करण उद्योग के विकास पर जोर दिया जाए (नीति आयोग का पर्चा "खाद्य प्रसंस्करण उद्योग को निर्यात के एक प्रमुख उद्योग" के रूप में विकसित करने की सिफारिश करता है।)

(v) *न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) के बदले "Price Deficiency Payments" की व्यवस्था बने*। इस व्यवस्था में, किसी साल किसानों को मिलने वाली एक फसल की कीमत एक सीमा (यह सीमा पिछले तीन–चार में उस फसल की औसत कीमत हो सकती है) के नीचे चले जाने की स्थिति में किसान को नकद सब्सिडी प्रदान की जाएगी। "अगर बाजार में कीमतें एक तय सीमा से नीचे गिरती हैं तो किसान अपने घाटे की एक अधिकतम सीमा, मान लीजिए दस प्रतिशत, के बराबर की नकद सब्सिडी के हकदार होंगे जिसे आधार से जुड़े बैंक खातों में सीधे भेज दिया जाएगा। यह व्यवस्था दी जानी वाली कुल सब्सिडी पर एक अंकुश रखेगी व साथ ही विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) के द्वारा लगाई गई अधिकतम सब्सिडी की शर्तों का भी पालन करेगी।"

(vi) *एक उदारीकृत भूमि–लीज़िंग कानून*। ("इस कानून व इससे जुड़ी व्यवस्था का सबसे बड़ा फायदा यह होगा कि इससे उन किसानों को कृषि से बाहर निकलने में आसानी होगी जो कि खेती को अप्रभावी या गैर–व्यवहार्य पाते हैं ... ")

संक्षेप में, *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) व नीति आयोग दोनों का ही तर्क यह है कि कृषि क्षेत्र में समस्याएं इसलिए हैं क्योंकि बाजारों को 'मुक्त' रूप से अपना काम करने की आज़ादी नहीं दी गई है[86]। उनकी समझ में समाधान सब्सिडी को समाप्त करने में है और मुक्त बाजार को संसाधनों के कुशल आवंटन करने देने की छूट देने में हैं, जिसमें 'अलाभकारी' किसानों को उनकी जमीनों से अलग करने की बात भी शामिल है।

सुधारों के 'विनाशकारी' प्रभाव

आधिकारिक महकमों द्वारा आज भारत में कृषि संकट से निपटने के लिए निजी क्षेत्र के निवेश व अविनियमन (deregulation) को नुस्खे के तौर पर पेश किया जा रहा है, जो कि वास्तव में एकदम उलट है। पिछले दो दशकों से अधिक की अवधि के दौरान इन्हीं नुस्खों के भयावह परिणाम सामने आए हैं।

आंध्र प्रदेश को ही ले लीजिए, जिसे चंद्रबाबू नायडू के 1995 से 2004 की अवधि के बीच के मुख्यमंत्रीकाल के समय नव–उदारवादी 'सुधारों' को लागू करने की प्रयोगशाला माना जाता है। इन 'सुधारों' का नतीजा था किसानों के बीच उपजी असंतोष की ऐसी लहर जो अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी और मीडिया को बेचैन करते हुए 2004 के चुनावों में नायडू की हार का कारण बनी। चुनकर आई कांग्रेस की नई सरकार ने किसानों के कल्याण पर

86 इस संबंध में, सर्वेक्षण सतर्कतापूर्वक कुछ हिस्सों में सार्वजनिक निवेश की आवश्यकता को स्वीकार करता है, लेकिन इसका मुख्य जोर नीति आयोग की सुझाई दिशा में ही है।

ध्यान देने के लिए एक आयोग की स्थापना की। अपनी रपट की शुरुआत (सितंबर 2004 में) यह आयोग इस घोषणा के साथ करता है कि

> आंध्र प्रदेश में कृषि का *संकट काफी गहरा है*। हालांकि इस संकट के कारण जटिल और बहुमुखी हैं, लेकिन मुख्य तौर पर उनका संबंध *सार्वजनिक नीति* से है ....
>
> नव–उदारवादी आर्थिक सुधार की नीति के अंतर्गत निम्नलिखित उपायों को शामिल किया गया, जिनका असर विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों पर पड़ा:
>
> – ग्रामीण विकास पर केन्द्रीय सरकार के द्वारा किए जाने वाले खर्च में वास्तविक गिरावट, विशेष रूप से सब्सिडी में कटौती जैसे कि वास्तविक अर्थों में उर्वरक सब्सिडी में, व साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति किए जाने वाले सरकारी खर्च में कुल गिरावट।
>
> – कृषि से जुड़े अनुसंधान और विस्तार सहित कृषि क्षेत्र में किए जाने वाले सार्वजनिक निवेश में कटौती।
>
> – सिंचाई समेत सार्वजनिक इंफ्रास्ट्रक्चर व ऊर्जा निवेश में भारी गिरावट, जिसने ग्रामीण क्षेत्रों को प्रभावित किया।
>
> – सार्वजनिक वितरण प्रणाली का घटता विस्तार व साथ ही इसमें मिलने वाले खाद्यों की कीमतों में बढ़ोत्तरी। देश के ज्यादातर हिस्सों में इस बात का सीधा असर ग्रामीण इलाकों में रहने वाले लोगों की भोजन की खपत पर पड़ा।
>
> – उदारीकरण के वित्तीय उपायों के मद्देनज़र बैंकों द्वारा ऋण देने की अपनी प्राथमिकताओं के बदलने के चलते ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण की उपलब्धता कम हो गई, जिसने खासकर छोटे किसानों के लिए खेती में निजी निवेश को और कठिन व महँगा बना दिया।
>
> – भारत में राज्यों के बीच कृषि वस्तुओं के व्यापार पर लगे प्रतिबंधों का हटाया जाना।
>
> – बाहरी व्यापार का उदारीकरण, पहले तो कृषि वस्तुओं के निर्यात पर लगे प्रतिबंधों को हटाकर और फिर कृषि वस्तुओं के आयात पर लगने वाले शुल्क के मात्रात्मक आधार को हटाकर। कई सारे प्राथमिक निर्यात जो पहले एजेंसी के माध्यम से होते थे, निजी एजेंटों के लिए खोल दिए गए। पूरे दशक के दौरान आयात शुल्क लगातार काफी नीचे तक घटाए गए। गेहूं और चावल सहित महत्वपूर्ण खाद्य वस्तुओं के निर्यात नियंत्रण से मुक्त कर दिए गए और इसके बाद कच्चे और संसाधित कृषि उत्पादों के निर्यात को बढ़ावा देने के लिए निर्देश दिए गए।

किसानों की बेड़ियां काटने के बजाए इन नवउदारवादी उपायों ने उन्हें कर्ज की एक अंधेरी गहरी खाई में धकेल दिया। ऐसा लगता है कि कर्ज में डूबे किसानों की आत्महत्याओं की घटनाएं आंध्र प्रदेश में 1997 से शुरु हुई थीं, लेकिन नायडू विदेशी पूंजी को लुभाने के चक्कर में 'सुधारों' की अपनी नीति पर कायम रहे। किसानों की आत्महत्याओं की यह लहर कई अन्य राज्यों में भी फैल गई, क्यूंकि आंध्र–प्रदेश में लागू किए गए उदारीकरण के 'उपाय' 1995 से 2004 के बीच पूरे देश भर में कुछ कमोबेशी के साथ लागू किए गए।

राष्ट्रीय स्तर का परिदृश्य भी इसी तरह गंभीर था। योजना आयोग का 11वें प्लान (2008) यह दर्ज करता है कि "1990 के दशक की मध्यावधि के बाद कृषि और संबद्धित क्षेत्रों की रफ्तार धीमी पड़ी है... 1981–82 से 1996–97 की अवधि के बीच रही कृषि विकास की दर 3.5 प्रतिशत से घटकर 1997–98 और 2004–05

के दौरान लगभग 2 प्रतिशत ही रह गई... कृषि क्षेत्र की यह मंदी, जिसे बारिश से सिंचित इलाकों में सबसे ज्यादा अनुभव किया गया, तकरीबन सभी राज्यों में रही व लगभग सभी प्रमुख उप–क्षेत्रों में दिखी..." इस प्लान ने निम्नलिखित रुझानों पर ध्यान दिलाया:

– विकास दर में गिरावट

– कृत्रिम रूप से व बारिश सिंचित क्षेत्रों के बीच बढ़ती आर्थिक असमानता

– व्यापार उदारीकरण के बाद विश्व वस्तु कीमत में अस्थिरता के कारण बढ़ता जोखिम। कपास और तिलहन जैसी फ़सलें उगाने वाली कृषि अर्थव्यवस्थाओं पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

– तकनीक का धीमा व असमान विकास

– उपलब्ध तकनीक और इनपुट का अकुशल उपयोग

– पर्याप्त प्रोत्साहन देने वाली उचित संस्थानों का अभाव

– प्राकृतिक संसाधनों की दुर्दशा

– भूजल पैमाने पर व्यापक गिरावट, जिसका छोटे और सीमांत किसानों पर विशेष रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

– समग्र जीडीपी विकास में तेजी और शहरीकरण के परिणामस्वरूप भूमि और जल के लिए गैर–कृषि मांग में बढ़ोत्तरी

– उपरोक्त सभी के कुल असर के चलते गहराता सामाजिक संकट बढ़ती किसानों की आत्महत्याओं में परिलक्षित होता है।

दरअसल, दसवीं योजना के पहले तीन वर्षों में, 2002–03 से 2004–05 के बीच, कृषि जीडीपी की वृद्धि दर 1 प्रतिशत से भी कम हो गई, जो कि जनसंख्या वृद्धि दर से नीचे थी। ऐसे थे नव–उदार 'सुधार' के परिणाम।

नव–उदार 'सुधारों' को आंशिक तौर पर धीमा करने की सुनियोजित नीति

सरकारी *नीतियों के परिणामस्वरूप* उपजे इस कृषि संकट के चलते भाजपा की अगुवाई वाली एनडीए सरकार 2004 के आम चुनाव हार गई। कांग्रेस की अगुआई वाली यूपीए, जो अपनी जीत पर खुद आश्चर्यचकित थी, को मजबूरीवश इस संकट को हल करने के लिए कुछ कदम उठाने पड़े। इस प्रकार, *क्योंकि नव–उदार सुधारों में आंशिक कटौती की गई,* जिसके चलते 2004 के बाद की अवधि में सार्वजनिक निवेश का आंशिक पुनरुद्धार हुआ; नतीजतन, किसान आत्महत्याओं में कुछ गिरावट आई थी।

मगर, नवउदार नीतियों की आंशिक वापसी केवल एक अल्पकालिक रणनीति थी; असल में शासकों की सोच में कोई आमूल–चूल परिवर्तन नहीं आया था। अपने दूसरे कार्यकाल में, राजकोषीय घाटे में कटौती करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के दबाव में, यूपीए सरकार ने उन नीतियों को वापस लौटा दिया। यह वही नीतियाँ थीं जिन्होंने एनडीए की पिछली सरकार को बर्बाद किया था, परिणामस्वरूप यूपीए का भी हश्र वैसा ही हुआ।

जब मोदी की अगुवाई वाली एनडीए 2014 में सत्ता में लौटी, तो कृषि पर सार्वजनिक व्यय की व्यवस्था को बहाल करने के बजाए कृषि खर्च में कमी को और भी तेज कर दिया। और जैसा कि हमने पाया, यहाँ तक कि लगातार दो वर्षों के सूखे के बावजूद 2016–17 के कृषि बजट में मात्र दिखावटी बढ़त की गई। इस प्रकार, 2011 के बाद सार्वजनिक निवेश में कमी के कारण गंभीर कृषि संकट एक बार फिर सामने आ खड़ा हुआ है।

कुल कृषि निवेश में सार्वजनिक निवेश का घटता हिस्सा

कुल कृषि निवेश में, सार्वजनिक निवेश का हिस्सा 1980 के दशक में 42% से गिरते हुए 1990 के दशक में 24% और 2011–12 में 15% तक पहुंच गया (देखें तालिका 6); इसके चलते सकल घरेलू उत्पाद में कुल कृषि निवेश का हिस्सा और भी कम होता जा रहा है। एक *ऐसा क्षेत्र जो देश के लगभग आधे कार्यबल को रोजगार देता हो व पूरे देश को अन्न*, उस कृषि क्षेत्र में वर्ष 2011–12 आते–आते (केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा किया गया) सार्वजनिक निवेश जीडीपी का मात्र 0.4 प्रतिशत था[87]।

तालिका 6: कृषि में सार्वजनिक व निजी क्षेत्र की भागीदारी

	1970 का दशक	1980 का दशक	1990 का दशक	2011 का दशक	2011–2011
सार्वजनिक क्षेत्र	66.5	58.3	76.1	81.1	84.9
निजी क्षेत्र	33.5	41.7	23.9	18.9	15.1

स्रोत: पल्लवी चव्हाण, "कृषि में ऋण व पूंजी निर्माण: एक बढ़ती हुई विषमता", रिव्यू ऑफ ऐग्रेरियन स्टडीज (Pallavi Chavan, "Credit and capital formation in agriculture: A growing disconnect", Review of Agrarian Studies), 2014.

87 कृषि पर सरकार का खर्च 0.4 प्रतिशत से अधिक है। क्योंकि इसमें न केवल निवेश शामिल है, बल्कि कर्मचारियों के वेतन सरीखे आवर्ती व्यय भी शामिल हैं।

सार्वजनिक निवेश का महत्व

इस संदर्भ में सार्वजनिक निवेश का महत्व दर्शाते उन संबंधों[88] को उजागर करना जरूरी है जिन्हें 'मुख्यधारा' के अर्थशास्त्रियों द्वारा भी माना गया है:

(1) कृषि क्षेत्र में (अन्य क्षेत्रों के बनिस्पत) होने वाले सार्वजनिक निवेश और निजी निवेश एक दूसरे का विकल्प नहीं बल्कि पूरक हैं। *सार्वजनिक निवेश निजी निवेश को प्रेरित करता है,* जो कि संभव है अन्यथा न हो। उदाहरण के लिए, बड़ी और माध्यमिक सिंचाई व्यवस्था, ग्रामीण विद्युतीकरण, कृषि अनुसंधान और विकास, कृषि विस्तार सेवाएं, टीकाकरण और पशु चिकित्सा सेवाएं, सार्वजनिक क्षेत्र की बीजों की एजेंसियां, ग्रामीण बैंक शाखाएं, ग्रामीण सड़कों, खरीद और भंडारण[89], यह सभी किसानों को प्रेरित करती हैं अपनी खेती के विकास में निवेश करने के लिए। दूसरी तरफ देखें तो, व्यक्तिगत किसान महज अपने निजी निवेश (जो कि मुख्य तौर पर छोटी सिंचाई व्यवस्था, कृषि मशीनरी और भूमि विकास पर होता है) को बढ़ाकर इंफ्रास्ट्रक्चर की कमी को दूर नहीं कर सकते हैं। हाल के वर्षों में कृषि क्षेत्र में होने वाले निवेश में आई मंदी (जीडीपी व कुल निवेश के प्रतिशत के तौर पर) के पीछे का तात्कालिक कारण *सार्वजनिक* निवेश में आई गिरावट है।

(2) *कृषि क्षेत्र में निवेश कृषि उत्पादन में वृद्धि की दर में तेजी* और भूमि व श्रम की उत्पादकता बढ़ाता है। भारतीय कृषि में व्याप्त मामूली उत्पादकता का मुख्य कारण यहाँ के किसानों के पास कार्यकारी पूंजी का ना होना है (पूंजी का ना होना अपने आप में संसाधनों व संपत्ति की एकाग्रता व उन प्रक्रियाओं का नतीजा हैं जिनके चलते मुनाफा मेहनतकश किसानों के पास नहीं पहुंचता।)

(3) गरीबी को कम करने की दिशा में, अलग–अलग क्षेत्रों में होने वाला विकास अहम होता है। भारत जैसे देशों में, *कृषि क्षेत्र का विकास (औद्योगिक या सेवा क्षेत्रों में वृद्धि की तुलना में) गरीबी को कम करने में सबसे अधिक कारगर होता है;* यह खपत और निवेश से जुड़े उत्पादों के लिए बाजार विकसित करके गैर–कृषि ग्रामीण आर्थिक गतिविधियों में भी वृद्धि करता है। बिस्लायह और देव कहते हैं: "विकास के प्रयासों को उन क्षेत्रों में निर्देशित किया जाना चाहिए जहाँ गरीब लोग रहते हैं, उन क्षेत्रों में जिनमें गरीब लोग काम करते हैं, उत्पादन के उन संसाधनों में जिनका वे उपयोग करते हैं व उन उत्पादों में जिनका वे उपभोग करते हैं। क्योंकि ग्रामीण इलाकों

88 यहाँ हम एस बिसल्याह और एस महेंद्र देव के द्वारा दिए गए तर्कों का सारांश दे रहे हैं: "भारतीय कृषि में निजी पूंजी का बनाना: क्षेत्र स्तरीय आँकणों का एक विश्लेषण", खाद्य एवं कृषि संगठन, रोम (Private Capital Formation In Indian Agriculture: An Analysis of Farm Level Data", FAO, Rome, 2010); बिसलीयह एवं देव, "भारतीय कृषि में निजी निवेश: क्षेत्र स्तरीय प्रमाण एवं नीतिगत दिशानिर्देश", भारत अन्तर्राष्ट्रीय केंद्र वर्कशाप, (Bisaliah and Dev, "Private Investments in Indian Agriculture: Farm Level Evidences and Policy Directions", India International Centre workshop), 2011.

89 इनमें से कुछ को कृषि में निवेश के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जाता है; हालांकि, वे कृषि विकास को बढ़ावा देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, और इसे मोटे तौर पर कृषि के लिए निवेश के रूप में माना जा सकता है।

में अधिकांश गरीब रहते व काम करते हैं, अकुशल सेवाएं प्रदान करते हैं और मजह बुनियादी उत्पादों का उपभोग करते हैं, इसलिए कृषि/ग्रामीण विकास पर जोर देना एक मुख्य रणनीति बन जाती है।"

छोटे व सीमांत किसानों को, व ऐसे किसानों को जो कि सिंचाई के लिए बारिश पर मोहताज है, विशेष रूप से सार्वजनिक निवेश की जरूरत है। इसके अलावा, सार्वजनिक निवेश की कमी क्षेत्रीय असंतुलन को बढ़ाती है: गरीबी विशेष रूप से पूर्वी भारत के ग्रामीण इलाकों में केंद्रित है, जहाँ पूंजी स्टॉक विशेष रूप से कम है। वहीं दूसरी ओर कृषि में कॉर्पोरेट निवेश, जिसका मतलब अपने मुनाफे से है, और वह भी लघु/मध्यम अवधि में, पहले से ही विकसित क्षेत्रों में होता है।

जलवायु परिवर्तन और सार्वजनिक निवेश की विशेष आवश्यकता

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में सार्वजनिक निवेश का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। ऐसा माना जाता है कि वैश्विक तापमान में 2 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि होने से जलवायु में अपरिवर्तनीय बदलाव आएंगे, जिसके नतीजे भयावह होंगे। लेकिन तापमान वृद्धि को 2 डिग्री सेल्सियस से कम रखने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित योगदान (आईएनडीसी) व उससे जुड़ी जो प्रतिज्ञाएं की गई थीं वे अभी तक मात्र एक अच्छा इरादा ही साबित हुई हैं। जलवायु परिवर्तन के जो परिणाम अभी तक सामने आए हैं उसके मुताबिक तापमान वृद्धि की 2 डिग्री सेल्सियस की सीमा से पहले की भी स्थिति काफी खतरनाक होगी, यही कारण है कि हाल ही में हुए पेरिस सम्मेलन में तापमान वृद्धि को 1.5 डिग्री सेल्सियस से कम रखने के बारे में बातचीत हुई – भले ही वह बातचीत अस्पष्ट रही और उसका कहीं कोई असर भी नहीं दिखा। लेकिन इसके बावजूद भारत में जलवायु परिवर्तन व उससे उपजी स्थिति से निपटने के लिए बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निवेश की अनिवार्य आवश्यकता के बारे में कोई चर्चा नहीं है।

जलवायु परिवर्तन के शुरुआती प्रभाव तो हम पर दिखने ही लगे हैं[90]। भले ही हाल के वर्षों में अनियमित बारिश, सूखा, बाढ़, चक्रवात और अन्य असामान्य मौसम की घटनाओं के लिए सीधे–सीधे व निश्चित रूप से बढ़ते तापमान को जिम्मेदार ठहराया जा सकता हो या नहीं, लेकिन यह निश्चित है कि *ऐसी घटनाएं जलवायु परिवर्तन के होने के साथ अधिक से अधिक बार घटित होंगी,* भले ही वैश्विक तापमान में वृद्धि 2 डिग्री सेल्सियस की सीमा को ना पार करे।

जलवायु परिवर्तन एक नई बात है; जिससे निपटने के लिए खुद राज्य ही फिलहाल तैयार नहीं। ऐसे में एक अकेले, असंगठित, गरीब किसान की बिसात ही क्या, जो लगभग डूबने की कगार पर है व साधारण निवेश कर

90 "सारे मौसम कहाँ गए? जलवायु परिवर्तन का वर्तमान में गुजरात में प्रभाव", दिल्ली प्लेटफ़ार्म द्वारा एक रिपोर्ट, गुजरात कृषि मज़दूर यूनियन, एवं अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य–मज़दूर यूनियन ("Where Have All the Seasons Gone? Current Impacts of Climate Change in Gujarat", a report by Delhi Platform, Gujarat Agricultural Labour Union, and International Union of Foodworkers), मई 2011.

सकने लायक बचत करने का भी माद्दा नही रखता। जलवायु परिवर्तन रोकने की कोशिशों (यानी प्रदूषण [carbon emissions] कम करने से) से काफी अलग, बदलती जलवायु में ढ़लने से जुड़े ऐसे अभूतपूर्व प्रयास शामिल होंगे जिनमें किसानों को साथ लेकर राज्य को काफी जोर लगाने की दरकार होगी।

कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को इस संदर्भ में नोट किया जाना चाहिए:

(1) भारत में कृषि–युक्त क्षेत्र का *ज्यादातर* हिस्सा (शुद्ध खेती क्षेत्र का लगभग 60 प्रतिशत) सिंचाई के लिए *वर्षा पर निर्भर* है;

(2) भारतीय कृषि व्यवस्था में ज्यादातर किसान *छोटी जोतों वाले* हैं (नवीनतम कृषि जनगणना के अनुसार, कृषि जोतों का औसत आकार 1.15 हेक्टेअर है);

(3) कृषि क्षेत्र अभी भी भारत में लगभग *आधी नौकरियां* प्रदान करता है;

(4) भारत की अधिकांश कृषि में अभी भी निर्वाह खेती होती है, जिसमें किसान अपनी उपज का ज्यादातर हिस्सा अपनी खपत के लिए रख लेते हैं (मोटे अनाज को देखें तो जहाँ 70–80 प्रतिशत, धान व गेहूं किसान अपनी खपत के लिए रखते हैं तो मसूर जैसी फ़सलों का 50 प्रतिशत हिस्सा);

(5) औसतन उपभोक्ताओं के कुल खर्च का लगभग आधा भोजन पर होता है। वहीं गरीब लोगों का कुल ख़र्च क़रीब क़रीब भोजन पर ही होता है।

इन सभी तथ्यों का जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में गंभीर प्रभाव पड़ता है।

वर्षा–ऋतु के समय व बारिश की मात्रा में होने वाले बदलाव वर्षा आधारित खेती पर निर्भर किसानों के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं। ऐसे में मिट्टी की नमी में बदलाव होने की संभावना होगी। पश्चिमी भारत के तटीय क्षेत्रों में बाढ़ और जमीन के खारेपन का खतरा है। इसके अलावा, बदली हुई स्थितियों में कीटों व जंगली घास के बढ़ने का खतरा है। तापमान में वृद्धि, व साथ ही सर्दी व गर्मी के मौसम में होने वाली तब्दीलियों के संभावित परिणाम गेहूँ व बाजरा सरीखी कई फसलों के लिए काफी खतरनाक होंगे, ऐसी भविष्यवाणी की जाती है। असामान्य मौसम की घटनाएं अधिक सामान्य होने की संभावना है। इसके अलावा वन पारिस्थितिकी तंत्र को अपरिवर्तनीय क्षति की स्थिति का सामना करना पड़ सकता है[91]।

91 जिस समय लेख के इस हिस्से का अनुवाद किया जा रहा है, देश के उत्तर–पूर्वी राज्य अभूतपूर्व बाढ़ की चपेट में हैं। लाखों लोग प्रभावित हैं। फसलें चौपट हो गई हैं। असम के काजीरंगा नेशनल पार्क में घटते जल स्तर के साथ सैकड़ों जानवरों के तैरते शव मिल रहे हैं, जिनमें विश्वप्रसिद्ध एक सींग के गैंडे भी शामिल हैं। वहीं दूसरी तरफ इस बाढ़ की स्थिति के बीच असम प्रदेश के ही कई इलाके ऐसे भी हैं जो सूखाग्रस्त हैं। http://www.voiceofgreaterassam.com/after–flood–drought–like–situation–in–almost–5–6–lower–assam–districts/

कृषि व्यवस्था के विभिन्न वर्गों पर जलवायु परिवर्तन का असर अलग–अलग होगा। जैसा कि हमने तीसरे भाग में देखा है, जहाँ एक ओर बड़ी जोतों वाले किसान अच्छा खासा मुनाफा बना लेते हैं, वहीं 70 प्रतिशत किसान परिवारों (2 हेक्टेअर से कम जमीन वाले) की विभिन्न स्रोतों (खेती, जानवरों की खेती , गैर–कृषि व्यवसाय और मजदूरी) से होने वाली कुल आय उनके खर्च से कम होती है। 87 फीसद किसान–परिवारों के मामले में तो अकेले कृषि आय (खेती और जानवरों की खेती से) उनके खर्च से कम थी। लोगों का यह विशाल समूह, जो अभी भी अपनी रोजी–रोटी के लिए जूझ रहा है, जलवायु परिवर्तन के झटकों का सामना नहीं कर पाएगा।

इस तरह हम पाते हैं कि

- नए जल संबंधी मुद्दों को सुलझाने के लिए,
- आपात स्थितियों से निपटने के लिए व्यवस्था बनाने व संस्थानों को विकसित करने के लिए,
- मौसम की भविष्यवाणी में सुधार करने और इसे किसानों तक पहुंचाने के लिए,
- ऐसी नई फसल की किस्मों और विधियों को विकसित करने के लिए जो बदली हुई स्थितियों में प्रभावी हों, और
- गंभीर रूप से समाप्त कृषि विस्तार प्रणाली को पुनर्जीवित करने के लिए

व्यापक स्तर पर निवेश की जरूरत है। ऐसी कल्पना करना बेवकूफी ही होगा कि सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता दिए बिना यह कर पाना संभव हो पाएगा। (वास्तव में, जलवायु परिवर्तन की घटना इस बात का सबसे भयानक उदाहरण है कि शुद्ध मुनाफे पर आधारित व्यवस्था किस तरह से एक ओर तो वैश्विक आपदा पैदा करने के लिए जिम्मेदार है और दूसरी तरफ इसका हल सुझाने में असमर्थ।)

आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) में प्रारंभिक अनुमान बताता है कि INDC (Intended Nationally Determined Contributions) के तहत 2015 की कीमतों के आधार पर आज व 2030 के बीच भारत में जलवायु परिवर्तन की स्थिति से जुड़ी जरूरी कार्यवाहियों को पूरा करने के लिए 2.5 ट्रिलियन (25 ख़रब) डालर की दरकार होगी। इन कार्यवाहियों में कार्बन उत्सर्जन में कमी करने जैसे अवरोधी कार्यक्रम व व्यवस्था को नई व बदली हुई स्थितियों के अनुकूल बनाने से जुड़े कार्यक्रम शामिल होंगे। यह राशि भारत की वर्तमान जीडीपी से ज्यादा है। लेकिन, आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) यह स्पष्ट नहीं करता कि यह राशि कहाँ से आने वाली है। *सर्वेक्षण* हमें बतलाता है कि " Climate Action Plan को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अत्यावश्यक है", लेकिन उसी अध्याय में तमाम सबूतों के साथ यह बात भी साफ कर देता है कि विकसित देशों की तरफ से इस दिशा में मिलने वाले क्षीण आर्थिक सहयोग का अभी तक कोई अता–पता नही है। अगर यह मदद आई भी तो यह *अवरोधी* कार्यक्रमों के तहत ही मिलेगी, ऐसे कार्यक्रम जो कि विकसित देश विकासशील देशों पर लादने के लिए आतुर हैं ताकि उन पर दबाव कम हो सके। व्यवस्था में खुद को ढ़ालने से जुड़े *अनुकूलन*

कार्यक्रमों के लिए अनुदान नहीं मिलेगा, जो कि सीधे भारतीय जनता को प्रभावित करता है। (उदाहरण के लिए, अवरोधी कार्यक्रमों के लिए भारत को 325 मिलियन (1 मिलियन = 10 लाख) डालर मिले हैं, जो अपने आप में ही काफी कम हैं लेकिन अनुकूलन कार्यक्रमों के लिए मात्र 10 मिलियन डालर।)

जलवायु परिवर्तन जैसे गंभीर विषय पर एक भी बात आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) या बजटीय दस्तावेज में बड़ी ही मुश्किल से मिलती है। यह एक ऐसा मुद्दा है जो ना केवल भविष्य में बल्कि *आज* इस समय हमारे करोड़ों किसानों को प्रभावित करता है। लेकिन बजट में अनुकूलन कार्यक्रमों के लिए किया गया आवंटन ना केवल नगण्य है बल्कि उपहासपूर्ण है। "ऐसी गतिविधियां जो जलवायु परिवर्तन के प्रतिकूल प्रभावों को कम करती हों" के लिए जलवायु परिवर्तन पर एक राष्ट्रीय अनुकूलन फंड स्थापित किया गया है; जिसके लिए 2016–17 का बजटीय आवंटन 100 करोड़ रुपए है। टिकाऊ कृषि पर राष्ट्रीय मिशन, वर्षा–सिंचित क्षेत्रों के विकास तथा जलवायु परिवर्तन के लिए 250 करोड़ रुपए का बजटीय आवंटन है; वहीं "Climate Resilient Agriculture" के लिए 110 करोड़ का। क्या सरकार इस बात की संभावना देखती है कि जलवायु परिवर्तन की समस्या को बाजार की शक्तियों के हवाले छोड़ा जा सकता है? या फिर शायद सरकार का विश्वास इस बात में तो नहीं कि "ना रहेगा बांस ना बजेगी बांसुरी" यानी कि जलवायु परिवर्तन से होने वाली उथल–पुथल किसानों को ही खत्म कर कृषि क्षेत्र के संकट को खत्म कर देगी?

लोकतांत्रिक और प्रगतिशील राज्य के तहत संगठित किसान, जलवायु परिवर्तन के चलते उपजी अनुकूलन की चुनौतियों का सामना करने के लिए एक बेहतर स्थिति में होंगे। लेकिन आज हम ठीक इसकी विपरीत स्थिति का सामना कर रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र खाद्य और कृषि संगठन के उच्च पैनल ने छोटे किसानों की उस भूमिका की ओर इंगित किया जो यह किसान अनुकूलन की चुनौतियों का सामना करने में निभा सकते हैं, साथ ही इस पैनल ने उन दिक्कतों का भी जिक्र किया जो यह किसान कर रहे हैं:

> हम इस बारे में बहुत कम जानते हैं कि फसलें व पशुधन की खेती कैसे होती है, या फिर वैश्विक पैटर्न की लगातार समझ बनाए रखने के लिए प्रबंधन कुशलताओं में किन तरहों के बदलावों की जरूरत है। लेकिन आमतौर पर यह माना जाता है कि छोटे स्तर की कृषि व किसान फसलों व पशुधन की खेती में काफी लचीले होते हैं व समय के साथ बदलते रहते हैं। यह गुण जलवायु परिवर्तन से लड़ने में काफी सहयोगी हो सकता है। वहीं दूसरी ओर इन लघु–स्तरीय संचालनों की पहुंच विस्तारित सेवाओं, नए इनपुट और बीज के लिए बाजार, व ऋण वगैरह तक कम या सीमित होती है। खाद्य सुरक्षा में सुधार व जलवायु परिवर्तन के चलते कृषि उत्पादकता व स्थिरता की चुनौतियों का सामना करने के लिए कृषि गतिविधियों में पाए जाने वाले विभिन्नताओं व जलवायु परिवर्तन से लड़ने के लिए हमारी कमजोरियों की बेहतर समझ बनाना बहुत जरूरी है।[92]

92 जलवायु परिवर्तन एवं खाद्य सुरक्षा: विश्व खाद्य सुरक्षा समिति (खाद्य एवं कृषि संगठन) के खाद्य सुरक्षा एवं पोषण के विशेषज्ञों की उच्च स्तरीय समिति द्वारा एक रिपोर्ट, 2012 से, उद्धृत टी. जयरमन एवं कमल मुरारी, "जलवायु परिवर्तन एवं कृषि: वर्तमान एवं भविष्य, और भारत के लिए महत्व", रिव्यू ऑफ ऐग्रेरियन स्टडीज, खंड 4, संख्या 1, फ़रवरी–जून 2014. (Climate

अनुकूलन का प्रश्न, केवल तकनीकी नहीं, बल्कि एक वर्गीय व राजनीतिक प्रश्न भी है। भारतीय राज्य का वर्तमान रुख (और वास्तविक प्रकृति) जलवायु परिवर्तन की स्थिति में भारतीय किसानों के विशाल बहुमत के लिए एक भयंकर बीमारी समान है।

change and food security: A report by the High Level Panel of Experts on Food Security and Nutrition of the Committee on World Food Security, Food and Agriculture Organisation (FAO), 2012, cited in T. Jayaraman and Kamal Murari, "Climate Change and Agriculture: Current and Future Trends, and Implications for India", Review of Agrarian Studies, vol. 4, no. 1, February–June 2014).

VII. किसान के रूप में गुलाम

पिछले भागों में कृषि संकट पर की गई बातचीत और चर्चा से ऐसा लगता है कि कृषि संकट क्या है इस मुद्दे पर हर किसी के विचार एक जैसे हैं या इस समस्या को देखने का सभी का नजरिया एक जैसा है। लेकिन, वास्तव में देखा जाए तो इस विषय पर दो मौलिक रूप से भिन्न या यूँ कहे कि एक–दूसरे से एकदम अलग और उलट विचार हैं, और इसीलिए इस समस्या से निपटने के लिए सुझाए जाने वाले समाधान भी अलग–अलग हैं।

शासक वर्ग द्वारा चलाए जाने वाले वे सभी कार्यक्रम और योजनाएं जो कृषि संकट के समाधान का दावा करती हैं अंततः भारतीय कृषि से जुड़े सवालों को कृषि–कार्य करने वालों के मुद्दे से अलग कर देती हैं। उनके 'समाधान' भावी कृषि सट्टेबाजों के मुनाफे और उत्पादकता (मोदी का यह वायदा कि किसानों की आमदनी दोगुनी कर दी जाएगी का आशय इसी से है) से परिभाषित होती है, न कि वर्तमान समय की कृषक आबादी की जीविका और उत्पादक क्षमता के रूप में। वास्तव में, इसका मतलब बड़े पूंजीपतियों के लाभ को बढ़ाना और लोगों को इस बात का भरोसा दिलाना है कि बड़े पूंजीपति अपने जमीन से विस्थापित हुए लोगों के लिए रोजगार का सृजन करेंगे।

असल में शासक वर्ग मौजूदा कृषक आबादी को उन परिवर्तन की प्रक्रियाओं में एक मुख्य *बाधा* के रूप में देखता है जिनका खाका सिर्फ शासक वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। उनका उद्देश्य समंदर जैसे विशाल भारतीय कृषि क्षेत्र में वैश्विक पूंजी के भारी निवेश से अधिकतम मुनाफा पैदा करने वाले टापुओं का निर्माण करना है, और दूसरी तरफ इस प्रक्रिया से प्रभावित कृषक आबादी को जिन्दा रहने भर के लिए कृषि में ही या किसी अन्य क्षेत्र में विभिन्न अस्थाई रोजगारों में धकेल देना है। ऐसी स्थिति में किसानों द्वारा शासक वर्ग के इन एजेंडो का विरोध स्वाभाविक है।

इन विरोधी हितों पर विश्लेषण की शुरुआत हम इस आधारभूत तथ्य से करेंगे कि इस देश में व्याप्त कृषि संकट मूल रूप से किसानों का संकट है; खासकर, भारतीय कृषि में संलग्न बहुसंख्यक छोटे–मझोले, भूमिहीन किसानों का। इसमें कोई शक नहीं है कि कम उत्पादकता, अलाभकारी और अस्थिर कीमतें, पर्यावरण की क्षति जैसे तमाम गंभीर सवाल इस संकट की परिधि के अन्दर आते हैं। लेकिन इन सवालों को बहुसंख्यक कृषक आबादी के '*उत्पादक रोजगार*' (productive employment) के अहम सवाल से अलग करना न केवल जन–विरोधी है बल्कि जान बूझकर की जाने वाली एक उद्दंडता भी है। इस बड़ी आबादी को लामबंद किए बगैर, प्राथमिक तौर पर सिर्फ मौजूदा किसानों की जीविका को बचाने के लिए ही नहीं बल्कि कृषि संबंधों में मूलभूत परिवर्तन करके सामाजिक व्यवस्था को व्यापक रूप से परिवर्तित करने के लिए, इस कृषि संकट का समाधान कतई संभव नहीं है। ऐसे परिवर्तन के बिना न केवल ग्रामीण क्षेत्रों में प्रगतिशील तरीके से कृषि से जुड़े टिकाऊ और स्थाई रोजगारों को बढ़ाना और उनमें विविधता लाना मुश्किल है बल्कि भारतीय राजनीतिक–आर्थिकी (political–economy) को एक प्रगतिशील दिशा देने के लिए इसे पुनर्गठित कर पाना भी संभव नहीं होगा।

बाज़ार और राज्य (state) से मिलने वाले बाहरी प्रोत्साहनों और फायदों के आलोक में ही शासक वर्गीय कार्यक्रम किसानों (और मजदूरों) की सुध लेता है और वह भी सिर्फ मुनाफा बढ़ाने वाली एक विखंडित इकाई के रूप में। जो कि एक निहायत गलत समझ है, किसान सामाजिक प्राणी हैं जो एक विशेष परिस्थिति और सामाजिक संबंधों के अंतर्गत प्रकृतिक साधनों/शक्तियों के दोहन से उत्पादन को अंजाम देते हैं। सामूहिक तौर पर, वे जिन भौतिक दशाओं में काम करते हैं और उनका सामना कैसे किया जाए के बारे में जानकारी और खुद के अनुभवों का खजाना भी वे संजो कर रखते हैं। साथ में ही, मौजूदा *सामाजिक* सम्बन्ध (social relations) उन्हें अपनी पूरी क्षमता का उपयोग करने से रोकते हैं या उसमें बाधा पहुंचाते हैं।

इन सवालों को किसी जड़–वस्तु के रूप में देखने के बजाय एक प्रक्रिया के रूप में देखने की जरूरत है; और, हमें अर्थव्यवस्था के बाकी क्षेत्रों के साथ कृषि क्षेत्र का सम्बन्ध और अंतर्क्रिया को कृषि के रूप में देखने की जरूरत है। लक्ष्य पूरी अर्थव्यवस्था, जिसमें किसान एक सक्रिय भागीदार हैं, के लिए सतत और संतुलित विकास को प्राप्त करना है न कि कृषि उत्पादन में लगे लोगों को उनकी कमाई दिन दूनी रात चौगुनी कर देने वाले भ्रामक कार्यक्रमों को सुझाना है।

'अतिरिक्त' कामगार

उल्लिखित विरोधी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए, नीचे दिए गए चार्ट 7, जिसे *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) 2012–13 से लिया गया है, को भी दो भिन्न तरीकों से देखा और समझा जा सकता है। इस चार्ट में अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का कुल रोजगार में हिस्सा और उनमें उत्पादकता का स्तर मतलब यह कि प्रत्येक क्षेत्र में एक कामगार कितना मूल्य संवर्धन करता है (मूल्य संवर्धन का मतलब संपत्ति मालिक और मजदूर दोनों के द्वारा किए गए कार्य से अर्जित आय से है) को बड़े ही आकर्षक ढंग से दर्शाया गया है। क्षैतिज अक्ष (X axis) पर रोजगार में हिस्सा दिखाया गया है, उदाहरण के तौर पर चार्ट में यह देखा जा सकता है कि कृषि के हिस्से में कुल रोजगार 52 प्रतिशत आता है। वहीं, ऊर्ध्वाधर अक्ष (Y axis) पर क्षेत्रवार प्रति कामगार मूल्य संवर्धन पता लगाने के लिए पूरी अर्थव्यवस्था में प्रति कामगार मूल्य संवर्धन के औसत अनुपात को दर्शाया गया है। हर क्षेत्र के नाम के आगे कोष्ठक (bracket) में यह अनुपात प्रतिशत में लिखा गया है। मोटा स्तम्भ जहाँ लोगों की अधिक संख्या को इंगित करता है, वहीं लम्बा स्तम्भ आय का अधिक अर्जन बताता है।

चार्ट 7: 2009–10 में विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार का हिस्सा व श्रम उत्पादकता

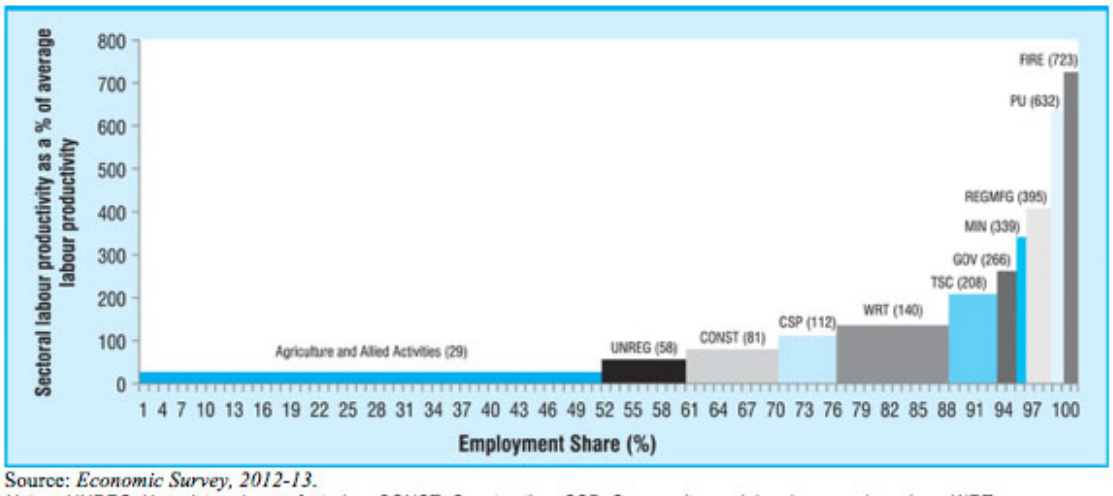

Source: *Economic Survey, 2012-13.*
Notes : UNREG: Unregistered manufacturing. CONST: Construction. CSP: Community, social and personal services. WRT: Wholesale—retail trade and restaurants—hotels. TSC: Transport, storage and communications. GOV: Government services. MIN: Mining and quarrying. REGMFG: Registered manufacturing. PU: Public utilities. FIRE: Finance, insurance and real estate.

चार्ट में जो छोटा दिख रहा है वह कृषि स्तम्भ यह बताता है कि कृषि में प्रति कामगार मूल्य संवर्धन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में औसत प्रति कामगार मूल्य संवर्धन का महज 29 प्रतिशत है। इसकी तुलना में वित्त, बीमा और रियल एस्टेट (संक्षेप में FIRE) में कार्यरत कामगारों की 'मजदूर उत्पादकता' (labour productivity) सभी कामगारों के औसत उत्पादकता से सात गुना ज्यादा है, कृषि कार्य करने वालों से तो 25 गुना अधिक है। हालाँकि, FIRE क्षेत्र का स्तम्भ काफी पतला है जिसका मतलब है यह है कि कुल कार्यबल का बहुत छोटा हिस्सा ही इस क्षेत्र में कार्यरत है।

चार्ट 7 इस बात को स्पष्ट करता है कि देश में रोजगार का एक बड़ा हिस्सा अभी भी कम उत्पादकता के स्तर पर है। तालिका 7 को देखने से यह पता लगता है कि असंगठित क्षेत्र कुल कामगारों के 85 प्रतिशत को रोजगार देता है लेकिन कुल आय का सिर्फ 22 प्रतिशत ही उनके हिस्से में आता है। असंगठित विनिर्माण क्षेत्र में प्रति कामगार सकल मूल्य संवर्धन संगठित विनिर्माण (manufacturing) क्षेत्र का *महज 5.1 प्रतिशत* ही है।

तालिका 7:
2004–05 में विनिर्माण (manufacturing) क्षेत्र में रोजगार हिस्सा और सकल मूल्य संवर्धन (GVA)

	रोज़गार (लाखों में)	रोज़गार प्रतिशत में	सकल मूल्य संवर्धन (करोड़ रुपए, वर्तमान मूल्य पर)	सकल मूल्य संवर्धन प्रतिशत में	सकल मूल्य संवर्धन प्रति कामगार (रुपए में)
संगठित विनिर्माण क्षेत्र	65	15	3,09,620	78	4,76,338
असंगठित विनिर्माण क्षेत्र	365	85	87,586	22	24,062
कुल	430	100	3,97,206	100	92,373

स्रोत: रोज़गार, योजना एवं नीति पर कार्य समूह, बारहवीं पाँच वर्षीय योजना (Working Group on Employment, Planning and Policy for the 12th five year plan), पृष्ठ 65.

ऐसा सिर्फ कृषि और गैर–पंजीकृत विनिर्माण क्षेत्र के साथ ही नहीं बल्कि संगठित क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले बाकी उपक्षेत्रों की भी यही स्थिति है। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि दशक 2000 के मध्य से ग्रामीण क्षेत्रों में निर्माण कार्यों में रोजगार के तीव्र विस्तार के साथ–साथ प्रति ग्रामीण–निर्माण–कामगार मूल्य संवर्धन में गिरावट दर्ज की गई है।[93] उसी प्रकार से, यदि ऊपर दिए गए चार्ट में संगठित और असंगठित क्षेत्रों को अलग–अलग प्रदर्शित किया जाता तो हमें असंगठित क्षेत्र की सेवाओं में संगठित क्षेत्र की सेवाओं से एक–तिहाई कम प्रति कामगार मूल्य संवर्धन दिखाई देता है।[94] नेशनल कमीशन फॉर एंटरप्राइजेज इन अनआर्गनाइज्ड सेक्टर (NCEUS) के कई रिपोर्टों में असंगठित गैर–कृषि क्षेत्रों में काम के बदतर हालात का जिक्र किया गया है।

ऐसे में यह प्रतीत होता है कि यह असंगठित क्षेत्र कामगारों को कृषि से निकालकर बेहतर ज़िन्दगी देने के बजाय बेरोजगार को एक '*अस्थायी* पनाह' और जिंदा रहने के लिए संघर्ष करते कृषकीय परिवारों को एक पूरक रोजगार देता है। दूसरी तरफ (प्रसार के दूसरे छोर पर), वित्त जैसा परजीवी क्षेत्र, जो बस मुट्ठीभर लोगों को रोजगार देता है, राष्ट्रीय आय के एक बड़े अंश को हथियाता है।

93 जे जे थॉमस एवं एम पी जयेश, "भारतीय मज़दूर बाज़ार में 2000 के दशक में बदलाव: जनगणना एवं राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से साक्ष्य", रिव्यू ऑफ ऐग्रेरियन स्टडीज (J.J. Thomas and M. P. Jayesh, "Changes in India's Rural Labour Market in the 2000s: Evidence from the Census of India and the National Sample Survey", Review of Agrarian Studies), जनवरी–जून, 2016.

94 बारहवीं पंचवर्षीय योजना के लिए रोजगार, योजना और नीति पर बने कार्यकारी समूह की रिपोर्ट, पेज 69. आँकड़ा सन 2004–05 का है।

विकास के रूप में विनाश

एक मौलिक सत्य को दोहराते हुए यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के कार्य में लगे कामगारों की संख्या को बढ़ाकर या प्रति कामगार उत्पादकता बढ़ाकर ही उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। सच पूछिए तो जरुरत दोनों की है। चाहे समान उत्पादकता स्तर के और ज्यादा कामगारों को काम पर लगाना हो (व्यापक विकास) या प्रत्येक कामगार की उत्पादकता को बढ़ाना (सघन विकास) हो, दोनों के लिए ही निवेश की जरुरत होती है। उत्पादकता बढ़ाने के लिए किए जाने वाले निवेश को दो भागों में बांटा जा सकता है, पहला– ऐसे निवेश जिसमें काफी नगद खर्च की जरुरत पड़ती है; और दूसरा– ऐसा निवेश जिसमें संपत्ति सृजन के लिए पूरी तरह से उपयोग न हो पाने वाली श्रमशक्ति को पूर्ण उपयोग के लिए जुटाना होता है।

'विकास' की समस्या की जड़ या 'विकास' के बारे में विभिन्न मतों का सम्बन्ध इस बात से है कि उत्पादकता बढ़ाने के लिए कौन सा रास्ता अपनाया जाता है। और यह रास्ता उनके द्वारा निर्धारित किया जाता है जिनको वह रास्ता अपनाने से फायदा हो।

चार्ट–7 में दर्शाई गई स्थिति पर मौजूदा शासक वर्ग की प्रतिक्रिया सामान्यतः यह होती है कि कम उत्पादकता वाले क्षेत्र जैसे कृषि एवं अपंजीकृत विनिर्माण में काम करने वालों की संख्या 'ज्यादा' है। इस नज़रिए के मुताबिक इन क्षेत्रों में रोजगार बढ़ाने की और संभावना नहीं है। वास्तव में, उत्पादकता में बिना किसी गिरावट के इन क्षेत्रों में कार्यरत लोगों को काम से निकला जा सकता है। पूंजी से प्राप्त होने वाले लाभ को किसी भी तरह से अधिकतम स्तर पर पहुँचाने के लिए शासक वर्ग के पास सबसे आसान तरीका होता है कामगारों की छंटनी। उनके (शासक वर्ग के) सैद्धांतिक मान्यताओं के अनुसार, एक बार पूंजी से अधिकतम आय अर्जित होने लगे तो कामगारों को पूर्ण रोजगार मुहैया कराने के लिए व्यवस्थागत सुधार *अपने आप* हो जाएँगे।

पूंजी से अर्जित लाभ को बढ़ाने का मतलब है परियोजनाओं के लिए भूमिअधिग्रहण, कम लोगों के पास अधिक भूमि के संकेन्द्रण को बढ़ावा, कृषियोग्य भूमि में कॉर्पोरेट का प्रवेश, छोटे उद्योगों की सुरक्षा के प्रावधानों को तहस–नहस करना, बड़े खुदरा (retail) को प्रोत्साहन, आदि। शासक वर्गीय अर्थशास्त्रियों का दावा है कि इस प्रक्रिया में अपने काम से अलग हुए कामगार एक पूर्ण रूप से स्वतंत्र बाजारवादी अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों द्वारा स्वतः समा लिए जाएँगे। अगर उदारीकरण के 25 साल बाद भी अभी तक कामगारों का उद्धार करने वाली इस प्रक्रिया की शुरुआत नहीं हो सकी है तो वही अर्थशास्त्री कुछ गैर–बाजारी अड़चनों, जैसे– श्रम कानून, भूमि हदबंदी, लघु उद्योगों के सुरक्षा के इन्तेज़ामात, आदि, पर दोष मढ़ते हुए बड़े पैमाने पर रोजगार पैदा न हो पाने का कारण बताते हैं।

यह दृष्टिकोण सरकार के वार्षिक *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) के 2012–2013 और 2015–16 के संस्करणों (जिसके मुख्य लेखक रघुराम राजन और अरविन्द सुब्रमनियम थे) में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 2015–16 के *सर्वेक्षण* का प्रमुख विषय यह है कि बाजारवादी अर्थव्यवस्था में निकास द्वार की आवश्यकता

है ताकि अनुत्पादक और अस्थायी गतिविधियों में उपयोग हो रहे संसाधनों को जबरदस्ती या बहला–फुसला कर उन गतिविधियों से *बाहर* निकाला जा सके। पुराने आर्थिक ढाँचे से एक नयी आर्थिक व्यवस्था के निर्माण के लिए *विनाश* आवश्यक है। यहाँ विनाश शब्द का तात्पर्य उत्पादन की छोटी इकाईयों और लघु उद्योगों को नष्ट करने से है। 2012–13 का *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey) घटिया रोजगार सृजन के लिए विभिन्न प्रतिबंधों जैसे– निजी व्यवसायों पर सरकारी नियंत्रण, छोटे उद्योगों को सरकारी प्रलोभन, कामगारों को सुरक्षा देने वाले श्रम कानून, भूमि पट्टा पर वैधानिक प्रतिबन्ध, आदि को दोषी ठहराता है जो 'रचनात्मक विनाश' को रोकते हैं। ये सभी प्रावधान जिनका उद्देश्य रोजगार और मजदूरी को संरक्षित करना है, सर्वेक्षण की नज़र में विकास के लिए हानिकारक हैं। रिपोर्ट जिक्र करती है, "भारत में तमाम लघु उद्योग छोटे और अनुत्पादक बने रहते हैं और उन्हें गरिमापूर्ण ढंग से मरने नहीं दिया जाता है।" *सर्वेक्षण* में चेताया भी गया है कि यदि सिफारिशों को अमल में नहीं लाया जाता है तो एक भयावह स्थिति उत्पन्न हो सकती है:

> कृषि के बाहर कम रोजगार पैदा होने की वजह से ज्यादा लोग कृषि पर आश्रित रहते हैं जिसका परिणाम जमीन पर बोझ का बढ़ना और आय का घटना है। कृषि योग्य छोटे जोत ज्यादा आय नहीं देते न ही उनको पट्टे पर दिया जा सकता है। पलायन को रोकने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों और कृषि के सहयोग के लिए खर्च सरकारी वित्त पर दबाव को बढ़ाते हैं।

सर्वेक्षण उपरोक्त बातों की तुलना एक खुशहाल उदारवादी परिदृश्य से करता है:

> कृषि पर कम लोगों की निर्भरता, बड़े जोत और भारी मात्रा में पूंजी और तकनीक में निवेश कृषि क्षेत्र को बेहतर और स्वस्थ्य बनाएंगे। साथ ही साथ, महत्त्वपूर्ण ग्रामीण उद्यमीय गतिविधियाँ जैसे– बागबानी, डेयरी और मीट उत्पादन भी फले–फूलेंगे।

इसी तरह, 2012–13 *सर्वेक्षण* के उस एक पन्ने में जहाँ पर भूमि सुधार के बारे में चर्चा की गई है, उसमें लम्बे समय से स्थापित भूमि सुधार के अर्थ– बड़े भूमिपतियों के जमीन को भूमिहीनों में वितरण या निर्धन किसानों को भूमि पर मालिकाना हक़ देना– को प्रयोग में लाया ही नहीं गया। बल्कि, परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण एवं पट्टों को और सुगम तथा सरल बनाने के तरीकों को सूचीबद्ध कर उन पर विस्तृत चर्चा की गई है।[95]

क्या मौजूदा संगठित क्षेत्र विस्थापित किसानों को समा पाएगा?

कृषि से विस्थापित हुए कामगारों का क्या होगा इस मुद्दे पर *सर्वेक्षण* का सुकूनदायक नज़रिए का यथार्थ से कोई इत्तेफाक होता नहीं दिखता है। महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या विनिर्माण क्षेत्र अपने वर्तमान स्थिति में विस्थापित किसानों की भारी संख्या को समाहित कर सकेगा?

---

95 यह तीन चरणों को सूचीबद्ध करता है: "सावधानीपूर्वक जमीन का नक्शा तैयार करना और निर्णय के आधार पर उसकी मिल्कियत निर्धारित करना, जमीन को लीज पर देना, और सार्वजनिक प्रयोजनों (public purposes) के लिए भूमि अधिग्रहण हेतु निष्पक्ष लेकिन त्वरित प्रक्रिया तैयार करना।" पहला चरण ही बाकी दोनों चरणों को प्रारंभ करता है।

इसके विपरीत, वैश्वीकरण, उदारीकरण और ट्रेड यूनियनों के बर्बादी के पिछले दो दशकों में विनिर्माण क्षेत्र में मजदूर की संख्या में लगातार गिरावट को देखा गया है। 1980 के दशक में कारखाना क्षेत्र में पूंजी के प्रत्येक इकाई पर कामगारों की संख्या दशक 2000 की तुलना में साधे चार गुना ज्यादा थी।

इस दौरान हुए कीमतों में वृद्धि को घटाने के बाद भी एक लाख रूपए का निवेश वर्तमान में जितने रोजगार का सृजन करेगा उससे साढ़े चार गुना ज्यादा रोजगार 1980 के दशक में समान निवेश से होते।[96]

इसमें कोई शक नहीं कि यदि ग्राहक अपने बजट का बड़ा हिस्सा फ़ोन और कार पर और छोटा हिस्सा कपड़ों, जूतों और तेल–साबुन पर करना शुरू कर चुके हैं तो यह प्रवृति अपेक्षित थी। बहरहाल, ऐसा नहीं है कि सिर्फ पूंजी सघन (capital intensive) उद्योगों में ही कामगारों की संख्या घटी है बल्कि मजदूर सघन (labour intensive) उद्योगों में भी वही स्थिति देखने को मिलती है। पहले की तुलना में आज कपड़े, जूतों, साबुन आदि के निर्माण में मशीनों के बड़े पैमाने पर हो रहे प्रयोग ने उत्पादन प्रक्रिया में श्रम के हिस्से को बहुत कम कर दिया है।[97]

परिणामस्वरूप, कामगारों की कुल संख्या में संगठित विनिर्माण क्षेत्र में कार्यरत लोगों का हिस्सा बढ़ नहीं सका।[98] कारखाना मालिकों के हित में श्रम को सस्ता और त्याज्य (easily disposable) बनाने के लिए श्रम कानूनों में फेरबदल के बावजूद यह हिस्सा बढ़ने में असफल रहा है।[99] परंपरागत आर्थिक सिद्धांतों (conventional

---

96 कुणाल सेन, देब कुसुम दास, "सारे मज़दूर कहाँ हैं? संगठित भारतीय निर्माण–क्षेत्र में मज़दूरों की कमी की पहेली", एकनॉमिक एंड पालिटिकल वीकली (ई.पी.डब्लू.), (Kunal Sen, Deb Kusum Das, "Where Have All the Workers Gone? Puzzle of Declining Labour Intensity in Organised Indian Manufacturing", Economic and Political Weekly (E.P.W.)), 6/6/15.

97 Radhicka Kapoor, "Creating Jobs in India's Organised Manufacturing Sector", Indian Council for Research on International Economic Relations (ICRIER), 2014.

98 1993–94 में यह 2.3 प्रतिशत था, वहीं 2004–05 में 1.9 प्रतिशत और 2011–12 में 2.5 प्रतिशत था। संगठित क्षेत्र में रोजगार का आँकड़ा उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण (Annual Survey of Industries) से लिया गया है; कुल कार्यबल का आँकड़ा एस मेहरोत्रा, जे परीदा एवं ए गांधी, "भारतीय अर्थव्यवस्था में रोज़गार के रुझान समझना:1993–94 से 2011–12", ई.पी.डब्लू. (S. Mehrotra, J. Parida, S. Sinha, and A. Gandhi, "Explaining Employment Trends in the Indian Economy: 1993–94 to 2011–12"), E.P.W., 9/8/2014 से लिया गया है।

99 तीन तथ्य इस वास्तविक छूट की व्याख्या करते हैं: 1– 1990 के दशक में असंगठित क्षेत्र में कार्यबल में तेजी से आई गिरावट (जो कि यह दर्शाता है कि कारखाना मालिकों ने छंटनी करने और अपने कारखानों को इच्छानुसार बंद करने के अधिकार का लाभ उठाया है); 2– ठेका श्रमिकों के उपयोग में इस कदर भारी बढ़ोत्तरी हुई कि अब संगठित क्षेत्र में काम करने वाले ज्यादातर लोग ठेका श्रमिक हैं; और 3– वास्तविक मज़दूरी में स्थिरता और मजदूरी में मूल्य संवर्धन में तेज गिरावट। असंगठित विनिर्माण क्षेत्र में मज़दूरी 1995–96 में अपने उच्चतम स्तर पर थी, फिर 2006–07 तक इसमें गिरावट आती रही जिसके बाद 2012–13 तक मज़दूरी दरों में सुधार हुआ। बहरहाल, 2012–13 में वास्तविक मज़दूरी 1995–96 की तुलना में कम ही है। यह

economic theories) की मान्यता के अनुसार तो मजदूरों का शोषण कारखाना मालिकों को मशीन की जगह और ज्यादा सस्ते मजदूरों को काम पर लगाने के लिए राजी करना चाहिए था। लेकिन, उन्होंने इसके उलट काम किया।

श्रम सघनता में इस गिरावट के पीछे कई कारण हैं। उनमें प्रमुख दो हैं। पहला, व्यापार का उदारीकरण और पूंजी वस्तुओं (capital goods) पर आयात शुल्क में कटौती जो आयातित पूंजी वस्तुओं को तुलनात्मक रूप से सस्ता बनती है; और दूसरा, उद्योगों का संकुचित कुलीन बाजार की सेवा करने के प्रति बढ़ता झुकाव– जिसका मतलब यह है कि उद्योगों की रूचि क्रय–शक्ति धारकों में होगी और क्रय–शक्ति धारक अमीर लोग होते हैं। कुलीन बाजार विकसित पूंजीवादी देशों के ग्राहक प्रवृति, जिसमें ब्रांड के प्रति वफ़ादारी और लगाव शामिल है, का तेजी से अन्धानुकरण करते हैं। मुख्य बात यहाँ यह है कि संगठित क्षेत्र में किसी भी दर से विस्थापित किसानों को समाहित करने की क्षमता अगर नकारात्मक नहीं भी है तो न के बराबर है। (विकसित देशों में मशीनीकरण को बढ़ावा और उसमे हाल में हुई अभूतपूर्व प्रगति देर–सबेर भारत के संगठित क्षेत्रों को भी अपने कब्जे में लेगी और इन नकारात्मक प्रवृतियों को और ज्यादा खराब ही करेंगी।)

इसलिए, कृषि क्षेत्र से विस्थापित हुए कामगार को पहले से ही आधारभूत अड़चनों का सामना कर रहे असंगठित क्षेत्र के बेहद कम उत्पादकता वाले कामों में धकेला जाएगा। अलग–अलग और कम आय के साधनों से अपने परिवार का जैसे–तैसे गुजर–बसर करने के लिए कुछ लोग अपने पूरे परिवार के कुल श्रम समय को खेती एवं असंगठित क्षेत्र के कामों में बाँट सकते हैं।[100]

विरोधाभासी दृष्टिकोण

इस प्रकार, चार्ट–7 में प्रदर्शित स्थिति से निपटने के लिए दो तरीकों या दृष्टिकोणों का पता चलता है। पहले दृष्टिकोण के अनुसार, किसान उन कामों में महज एक निष्क्रिय वस्तु की तरह है जो शासन व्यवस्था के द्वारा किए जाते हैं। तात्पर्य यह है कि शासन व्यवस्था किसानों को उनके मौजूदा काम से अलग कर उन्हें कहीं और रोजी–रोटी कमाने के लिए फेंक देती है।

इसके विपरीत दूसरा दृष्टिकोण किसानों को एक सक्रिय कर्ता या परिवर्तन का अभिकर्ता (agent of change) के रूप में देखता है। यह दृष्टिकोण दो मूल बातों पर आधारित है। पहला, राज्य की मदद से छोटे उत्पादकों की बड़ी संख्या अपनी उत्पादकता बढ़ाने के लिए संगठित होती है; और दूसरा, विनिर्माण को राजनैतिक आर्थिकी

औद्योगिक श्रमिकों के लिए कंज्यूमर प्राइस इंडेक्स द्वारा बनाए गए Annual Survey of industries के मज़दूरी के आँकड़ों पर आधारित है।

100 जैसा कि थॉमस और जयेश (पूर्व संदर्भित) ने जिक्र किया है कि यही वजह है कि जनगणना के आँकड़ों के हिसाब से कृषि में संलग्न कार्यबल बढ़ रहा है जबकि National Sample Survey गिरती हुई दर दिखा है। जनगणना में जिन्हें कृषि श्रमिक के रूप में देखा जाता है उन्हीं में से कुछ को NSS निर्माण (construction) श्रमिक की श्रेणी में गणना करता है।

के एक प्रगतिशील अंग के रूप में विकसित करके छोटे उत्पादकों को कृषि से *निकालकर* प्रगतिशील ढंग से विनिर्माण क्षेत्र में लगाना। उच्च उत्पादकता और मुनाफे के एक–दूसरे से पृथक केन्द्रों को साकार करने के लिए मौजूदा रोजगार और जीवनयापन के साधनों को नष्ट करके और फिर विभिन्न योजनाओं (schemes) के माध्यम से 'समावेश' का दावा करने के बजाय यह दृष्टिकोण उत्पादन और वितरण के क्षेत्र को एक समग्र के रूप में देखता है।

कृषि में इसका तात्पर्य यह है कि जिनके पास पूंजी है उनके द्वारा पूंजी निवेश करने की प्रतीक्षा करने और उन्नत मशीनरी पर भरोसा करने के बजाए कृषि में आंशिक रोजगार पा रहे कामगारों की बड़ी आबादी को छोटे पैमाने के जल–संग्रहण, सिंचाई, जल निकास आदि कामों के माध्यम से एकजुट करना। एक उचित सामाजिक व्यवस्था की स्थिति में इस श्रमशक्ति को मौद्रिक मजदूरी की अदायगी के बगैर ही एकजुट किया जा सकता है, लेकिन एक सामूहिक प्रयास की तरह जिसमें किसानों का स्वयं–संगठित समूह अपने लिए एक बेहतर और ज्यादा उत्पादकता वाले भविष्य के निर्माण के लिए काम करेगा।

विशाल श्रमशक्ति की उपलब्धता

कुछ तथ्यों से हमें आंशिक रोजगार पर गुजर–बसर कर रहे श्रम शक्ति के आकार के बारे में अंदाजा लग सकता है। पहले कुछ पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट कर देना आवश्यक है ताकि उनके अर्थ को लेकर कोई संशय न रहे। *कार्यबल* (workforce) का मतलब उन लोगों से है जो रोजगार में हैं। कार्यबल + बेरोजगार (वे जो काम की तलाश में हैं)= *श्रमबल* (labour force)। जनसंख्या में श्रमबल का अनुपात (कार्य करने योग्य आयु सीमा में आने वाले लोगों का अनुपात) *श्रमबल सहभागिता दर* (labour force participation rate or LFPR) कहलाता है। यहाँ यह ध्यान देने वाली बात है कि 'हतोत्साहित कामगार'– काम न मिलने की कोई संभावना न दिखने पर काम की तलाश बंद कर देने वाले लोग– इस श्रमबल की गणना में शामिल नहीं होते हैं, लेकिन हम इस बात का दावा करते हैं कि यदि नौकरियां उपलब्ध होती हैं तो इनमें से बहुत सारे लोग काम की मांग करेंगे।

1. 2011 की जनगणना के अनुसार, भारत में काम करने वाले हर चार व्यक्तियों में एक 'सीमान्त कामगार' है जिसे साल में छः महीने से कम अवधि का काम मिलता है। उदारीकरण के दो दशकों के दौरान कार्यबल में जुड़े लोगों में आधे से ज्यादा 'सीमान्त कामगार' हैं। अर्थात, अर्थव्यवस्था में 16 करोड़ 70 लाख (167 मिलियन) नई नौकरियां जुड़ीं लेकिन इनमें से 9 करोड़ 10 लाख (91 मिलियन) सीमान्त कामगार हैं।

2. असाधारण रूप से कार्य करने योग्य आयु सीमा में आने वाली आबादी का एक बड़ा हिस्सा श्रमबल से बाहर होता है। यह गौर करने की बात है कि साल 2013 में भारत में श्रमबल सहभागिता दर 52

प्रतिशत थी जबकि चीन में यही दर 71 प्रतिशत और ब्राजील में 65.5 प्रतिशत थी।[101,102] यह संकेतक बताता है कि भारत की राजनीतिक आर्थिकी अपने उत्पादक शक्तियों का विकास करने में अक्षम है।

3. जैसा कि हमने पहले ही इस बात का जिक्र किया है कि बड़ी संख्या में लोग कम आय वाले छोटे उद्यमों में कार्यरत हैं जिसे 'आश्रय रोजगार' कहा जा सकता है। इस तरह, असंगठित कृषि क्षेत्र के उद्यमों में (जो 2010–11 में 530 लाख लोगों को काम दे रहा था) प्रति कामगार मूल्य संवर्धन महज 37,000 रूपए था जो कि कृषि में प्रति कामगार मूल्य संवर्धन से भी *कम* था।[103]

इन तथ्यों से पता चलता है कि देश में श्रमबल विशाल मात्रा में उपलब्ध है जिसको कृषि एवं संबंधित गतिविधियों में उत्पादकता बढ़ाने के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। बशर्ते वे इस बात से आश्वस्त हों कि उत्पादकता में बढ़ोतरी से भविष्य में होने वाले फायदों में उनको (श्रमबल को) भी उसमें हिस्सा मिलेगा।

---

101 थॉमस और जयेश (पूर्व संदर्भित)– 'श्रमबल' शब्द से यह मतलब नहीं निकाला जाना चाहिए कि जो लोग श्रमबल से बाहर हैं वे रोजगार नहीं चाहते या उन्हें उत्पादक रूप से रोजगार में नहीं लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए बीसवीं शताब्दी के दौरान विकसित पूंजीवादी देशों में श्रमबल सहभागिता दर में आई तेज उछाल को लेते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में महिलाओं के मामले में 1948 में LFPR बहुत ही निम्न स्तर 33 प्रतिशत से उठकर 1999 में 60 प्रतिशत हो गया था और उसके बाद यह घटकर 51 प्रतिशत रह गया।

102 मुख्यतः महिलाएँ हैं जो भारत में 'श्रमबल' से नदारद हैं। बेशक, इसका मतलब यह नहीं है कि वे काम नहीं करती हैं, इसका सिर्फ इतना ही मतलब है कि वे घर के अन्दर और बाहर अवैतनिक काम कर रही हैं, ऐसे काम जो समाज में जरूरी काम होते हैं लेकिन लैंगिक सामाजिक व्यवस्था के चलते ऐसे कामों का अवमूल्यन कर दिया जाता है। System of National Accounts, जिससे GDP की गणना की जाती है, ऐसे कामों को नज़रअंदाज करता है जिसमें महिलाओं की भूमिका मुख्य होती है। इस भेदभाव को आंशिक मान्यता देते हुए निम्न गतिविधियों को 'Extended SNA activities' के रूप में वर्गीकृत किया जाता है: गृहस्थी का रखरखाव, स्वयं की गृहस्थी के लिए बाज़ार से खरीददारी और प्रबंध, अपने परिवार के बच्चों, बूढ़ों, बीमार और विकलांग की सेवा और दूसरी गृहस्थी को मदद तथा सामुदायिक सेवा। 1998–99 के Time Use Survey में पाया गया कि भारत में कुल काम के घंटों में पुरुषों की तुलना में महिलाओं का हिस्सा ज्यादा है, लेकिन सिर्फ 19 घंटे SNA गतिविधियों में और 34.6 घंटे Extended SNA activities में थे। इस तरह से, जहाँ महिलाएं कुल काम के घंटों का 54 प्रतिशत करती हैं, SNA गतिविधियों में उनका हिस्सा कुल काम के घंटों का केवल 31 प्रतिशत ही है (आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2015–16 के पेज 199–200 को देखें)। हालाँकि, इन सबका मतलब यह नहीं है कि महिलाओं को गृहस्थी के बाहर के कामों में नहीं लगाया जा सकता है बल्कि इसका मतलब यह है कि उनके द्वारा किए जा रहे अवैतनिक कामों का जनतांत्रिक पुनर्वितरण और समाजीकरण उनको गृहस्थी के बाहर के कामों में लगाने में मददगार होगा।

103 ग्रामीण अनिगमित उद्यमों में प्रति कामगार मूल्य संवर्धन की गणना 2010–11 के NSS 67वें राउंड से किया गया है। कृषि में प्रति कामगार मूल्य संवर्धन तकरीबन 54,000–51,000 रुपए रहा होगा (2010–11 में कृषि में सकल घरेलू उत्पाद को उस वर्ष कृषि में अनुमानित कार्यबल से विभाजित करने पर)।

आगे बात की जाए तो अनिश्चितकाल तक बड़े औद्योगिक घरानों का इंतज़ार करना कि वे ही कृषि में लगे कामगारों को निकाल कर विनिर्माण कार्य में लगाएंगे के बजाय यह दृष्टिकोण ग्रामीण इलाकों में छोटी इकाईयों की स्थापना की वकालत करता है। जो स्थानीय स्तर पर उपलब्ध कच्चे माल का यथासंभव उपयोग करके स्थानीय श्रम, जो कि कृषि में अधिकतम व्यस्तता वाले अवधियों के अलावा खाली बैठे रहते हैं, को काम पर लगाकर स्थानीय बाज़ारों में आम उपभोग और घरेलू सामानों के अलावा कृषि में प्रयोग होने वाले साधारण औजारों और यंत्रों की जरुरत को पूरा करेंगे।[104]

इस प्रकार से कृषि से ठीक–ठाक संख्या में कामगारों को निकालने के लिए यह सुनिश्चित करना आवश्यक है ऐसी विनिर्माण इकाईयों की स्थापना हो जिसमें प्रति कामगार पूंजी का बोझ ज्यादा न हो (अन्यथा उपलब्ध सीमित पूंजी कृषि से अलग किए जाने वाले कामगारों की संख्या को गंभीर रूप से कम कर देगी) और ऐसे विनिर्माण इकाईयों को बड़े पैमाने पर लगाया जाना चाहिए। इसमें कोई दो राय नहीं कि ऐसी इकाईयां संतुलित औद्योगिक विकास का सिर्फ एक पैर ही हो सकती हैं, भारी उद्योग महत्वपूर्ण दूसरे पैर का काम करेंगे जिनकी वृद्धि दर इस बात पर निर्भर करेगी कि कितना संसाधन छोटे उद्योगों को मुहैया किया जाता है।

असली अड़चन

हालाँकि, यह कोई नयी अवधारणा नहीं कि आम उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले छोटे उत्पादन की इकाईयां कृषि के बाहर रोजगार का सृजन कर सकती हैं। यह धारणा पी. सी. महालनोबिस के दिशा–निर्देशन में शुरू हुए भारतीय योजनाओं के प्रारंभिक दिनों से ही विकास को सुनिश्चित करने वाले प्रयासों का एक अहम घटक थी। वह प्रयास आखिर असफल क्यों हुआ? इस असफलता का मुख्य कारण यह है कि जिस विकास के मॉडल की चर्चा हमने ऊपर की है उसको धरातल पर उतारने में मुख्य अड़चन मौजूदा संपत्ति सम्बन्ध, सिर्फ कृषि में नहीं बल्कि पूरी अर्थव्यवस्था में है। यह विभिन्न रूपों में प्रकट होता है:

पहला, सामाजिक रूप से प्रभावशाली परजीवी शक्तियां (जमींदार, सूदखोर, व्यापारी, अधिकारी, राजनेता, आदि) कृषि से उत्पादित अधिशेष (surplus) के अच्छे–खासे हिस्से को अनुत्पादक कामों में बहा देते हैं जो कृषक अर्थव्यवस्था पर बोझ बढाती है। चीन के केस में, विक्टर लिप्पित ने एक कमतर आंकलन करते हुए पाया कि ग्रामीण शोषक वर्ग द्वारा किराया, भाड़े पर श्रम से मुनाफा और ऋण पर सूदखोरी के रूप में अर्जित कुल धन राष्ट्रीय आय का लगभग 17 प्रतिशत था। इसके अलावा किसानों द्वारा चुकाया गया कर राष्ट्रीय आय का दो प्रतिशत था। कृषक क्रांति ने जमींदारों, सूदखोरों, व्यापारियों और अधिकारियों द्वारा किए जा रहे किसानों के शोषण को ख़त्म करके शोषक वर्ग द्वारा किसानों से निचोड़े गए धन को वापस किसानों के हाथों में पहुँचाने और

104 हैरी मैगडॉफ, "पूंजी, तकनीकी और विकास", मंथली रिव्यू, (Harry Magdoff, "Capital, Technology and Development", Monthly Review), जनवरी 1976, काफी बढ़िया और सरलता से इस बात को कहते हैं।

साथ ही कृषि से प्राप्त होने वाली आय के एक हिस्से को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए पुनर्वितरित करने में सक्षम भी रहा।[105]

इस सम्बन्ध में, प्रत्यक्ष तौर पर, भारत और चीन में कोई समानता नहीं दिखाई देती। 1949 के चीन की तुलना में वर्तमान भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि एक बहुत ही छोटा सा हिस्सा है; भारत में सकल घरेलू उत्पाद (GDP) के नवीनतम आँकड़ों के अनुसार, वास्तव में, कृषि कुल राष्ट्रीय आय में 17 प्रतिशत से भी कम योगदान करती है। अगर हम शासक वर्ग के चश्मे से इस मुद्दे पर नज़र डालें तो पाएंगे कि भारतीय कृषि संबंधों में परिवर्तन करने से भी उतना अधिशेष पैदा नहीं होगा जो राष्ट्रीय आय को बढ़ा सके। इसलिए ऐसा करना विकास के लिए अप्रासंगिक है।

बहरहाल, यदि इस समस्या की पड़ताल हम श्रमवादी दृष्टिकोण[106] – जिसका तात्पर्य उत्पादक गतिविधियों में रोजगार की बढ़ोतरी और श्रम की उत्पादकता में इजाफे से है– से करें तो हम एक बिलकुल अलग निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। श्रमवादी दृष्टिकोण कृषि को अर्थव्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में देखता है क्योंकि *आधा* कार्यबल (workforce) कृषि पर निर्भर है और छोटे पैमाने की विनिर्माण इकाईयाँ अर्थव्यवस्था का दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो विनिर्माण में लगे कुल कार्यबल के *85 प्रतिशत* को रोजगार देती हैं। इसलिए इन क्षेत्रों में उत्पादक श्रम की पूर्णकालिक संलग्नता को सुनिश्चित करना महत्वपूर्ण हो जाता है। *इन उद्देश्यों की प्राप्ति और आमूल परिवर्तन के लिए* कृषि में उपलब्ध अधिशेष पर्याप्त हैं, बशर्ते उसे परजीवी वर्ग के चंगुल से बाहर निकाला जा सके।

दूसरा, सामाजिक रूप से दमनकारी और परजीवी शक्तियों का सामाजिक–सांस्कृतिक वर्चस्व भूमिहीनों और निर्धन किसानों के किसी भी स्वतंत्र सामूहिक प्रयास को मनोवैज्ञानिक और भौतिक रूप से कुचल देगा।

वास्तव में, शोषक वर्ग एवं परजीवी शक्तियों के वर्चस्व को उखाड़ फेंकने और सामाजिक दमन को ख़त्म करने की प्रक्रिया ही बहुसंख्यक किसानों के बीच एकता और सामंजस्यता को स्थापित कर सकती है जो आगे चलकर सहयोग आधारित उत्पादन के लिए रास्ता खोलता है। नए संपत्ति के सृजन और उत्पादकता को बढ़ाने के उद्देश्य से लोगों के श्रम संसाधनों को जुटाने के लिए ऐसे सामूहिक भौतिक हित और सामूहिक चेतना का होना अनिवार्य है। अतिरिक्त श्रम समय जो कि ग्रामीण इलाकों के विभिन्न कुनबों में छितरे हुए हैं उनको इकट्ठा कैसे कर सकते है? यह काम करने के लिए कामगारों को भुगतान कौन करेगा? संपत्ति पर स्वामित्व किसका होगा?

---

105 विक्टर लिप्पीट, चीन में भूमि सुधार एवं आर्थिक विकास: संस्थागत परिवर्तन और विकास वित्त का एक अध्ययन (Victor Lippit, Land Reform and Economic Development in China: A Study of Institutional Change and Development Finance), 1974.

106 कृष्ण भारद्वाज, "विकास सिद्धांत में मानदंड: 'मज़दूर–सबंधी' दृष्टिकोण की गुज़ारिश", ई.पी.डब्लू. (Krishna Bharadwaj, "Paradigms in Development Theory: Plea for a 'Labour–ist' Approach"), E.P.W., 27/1/1990.

इन सवालों का समाधान मौजूदा ग्रामीण व्यवस्था, जिसकी पहचान असमानता, सम्पत्तिशाली वर्गों द्वारा सामाजिक दमन और उत्पादकों का एक दूसरे से अलगाव से होती है, में असंभव है।[107]

रही बात उद्योगों की तो मौजूदा व्यवस्था में छोटी स्वतंत्र विनिर्माण इकाईयों की स्थिति और उनके लिए संभावनाएं दोनों अंधकारमय हैं। आम उपभोग की जरूरतों या छोटे उत्पादकों की उत्पादक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली उत्पादक इकाईयां माँग में कमी का सामना करती हैं, जिसका कारण उनके ग्राहकों (एक बड़ी आबादी) की निर्धनता और संगठित वितरण व्यवस्था की गैर–मौजूदगी है। ऐसी इकाईयों को बैंक से लोन भी बहुत कम प्राप्त होता है जिसके चलते वे अपनी उत्पादन गतिविधियों से मुनाफा होने के बावजूद भी उन गतिविधियों का विस्तार नहीं कर पाती हैं।[108]

इनके संभावित बाज़ार के धनी–समृद्ध तबके को पूंजी–संपन्न बड़े उद्यम अपने ब्रांड के बेहतर विज्ञापन और प्रचार से अपनी तरफ खींच लेते हैं। बड़े उद्यमों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के लिए इन छोटी इकाइयों के पास फिर एक ही तरीका बचता है, वह है कामगारों का शोषण। (छोटे उद्योगों में तो मालिक स्वयं कामगार होता है; सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्योगों में औसतन 2.3 कामगार प्रति इकाई होते हैं।) उत्पादन प्रक्रिया में बने रहने के लिए छोटी इकाईयां बड़े उद्यमों के लिए संविदा/ठेका (contract) पर उत्पादन करती हैं (जो इस बात को सिद्ध करता है कि ऐसे वस्तुओं के उत्पादन के लिए बड़े उद्यमों की जरुरत नहीं है) लेकिन व्यवसाय का यह तरीका भी छोटे इकाईयों के लिए असुरक्षित और अस्थायी ही है। छोटे स्तर की उत्पादन इकाइयों की निरंतर वृद्धि का सम्बन्ध वैकल्पिक रोजगार के अभाव से है न कि उनकी व्यवहार्यता (viability) से। (जैसा कि हमने

---

107 "वास्तव में, बिना लागत के पूंजी निर्माण के लिए जिस चीज की जरुरत है वह है 'विलंबित मजदूरी' (deferred wages)। मतलब आय से तात्कालिक बढ़ोत्तरी के बिना सभी कठिन परिश्रम करने के लिए तैयार हों, स्वभाव के मुताबिक संपत्ति निर्माण का प्रोजेक्ट संपत्ति निर्माण में एक निश्चित अवधि लेता है और तुरंत आय मुहैया नहीं करा सकता है। भविष्य में अधिक आय प्राप्त करने के लिए सभी लोगों को वर्तमान में कड़ी मेहनत करने के लिए तैयार होना पड़ेगा। लेकिन, विखंडित निजी संपत्ति की दशा में जहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि निर्मित होने वाली सम्पत्ति पर अधिकार किसका होगा यह व्यवस्था कैसे संचालित हो पाएगी? सही मायने में देखें तो सहकारी कार्यपद्धति और कम्यून व्यवस्था ही अतिरिक्त श्रम समय को एकत्रित करके कामगारों के अलग–अलग इकाईयों के रूप में संभावित अतिरिक्त श्रम को पूंजी निर्माण के लिए प्रभावी ढंग से जुटाती है।", उत्सा पटनायक, "माओ जेडोंग के आर्थिक विचार: कृषि में बदलाव", एक्रोस हिमालयन गैप: ऐन इंडीयन क्वेस्ट फ़ोर अंडर्स्टैंडिंग चाइना (Utsa Patnaik, "The Economic Ideas of Mao Zedong: Agricultural Transformation", in Across the Himalayan Gap: An Indian Quest for Understanding China, ed. Tan Chung), 1998. ignca.nic.in पर उपलब्ध।

108 सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्योगों (MSMEs जिसमें विनिर्माण और सेवा इकाईयां शामिल हैं) के अखिल भारतीय सर्वेक्षण (All India Survey of Micro, Small and Medium Enterprises) ने पाया कि इस तरह की इकाईयां कुल 90 प्रतिशत लोन के लिए औपचारिक स्रोतों पर निर्भर होती हैं। इनके 2.6 लाख करोड़ रुपए की लोन जरुरत पर बैंकिंग क्षेत्र ने इन्हें सिर्फ 1.1 लाख करोड़ रुपए ही मुहैया कराए।– एस एस मुंद्रा, डिप्टी गवर्नर, भारतीय रिज़र्व बैंक, सी. आइ. आइ. के सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम के वित्तपोषण पर द्वितीय राष्ट्रीय अधिवेशन में (S.S. Mundra, Deputy Governor, Reserve Bank of India at the 2nd CII National Conference on MSME Funding), 23/8/2016.

तालिका 1 के संदर्भ में जिक्र किया था, विनिर्माण क्षेत्र में कुल कामगारों का 85 प्रतिशत असंगठित विनिर्माण क्षेत्र में संलग्न हैं लेकिन विनिर्माण क्षेत्र के सकल घरेलू उत्पाद का केवल 22 प्रतिशत ही इनके हिस्से में आता है।)

छोटे स्तर की विनिर्माण गतिविधियों की व्यवहार्यता के लिए भूमि का पुनर्वितरण, संसाधनों पर सामूहिक नियंत्रण, अत्यधिक ब्याज वाले ऋणों की माफ़ी और व्यापारियों द्वारा शोषण की समाप्ति जैसे माध्यमों से कृषक संबंधों में आमूल परिवर्तन लाभदायी होगा। क्योंकि, इस शोषणकारी व्यवस्था से पीड़ित वर्ग की आर्थिक स्थिति में सुधार का मतलब है छोटी विनिर्माण इकाईयों के लिए संभावित बाज़ार का विस्तार। ग्रामीण आबादी की आय और आर्थिक–सामाजिक सुरक्षा में थोड़ा सा इजाफा भी सही प्रकार के उद्योगों को बढ़ा सकता है।

बाज़ार का विस्तार

एक सरल उदाहरण से समझने की कोशिश करते हैं: ग्रामीण क्षेत्रों में कपड़ों और बिस्तर–बिछौनों पर खर्च तमाम सामानों पर होने वाले खर्चों को शामिल करता है, जैसे– साड़ी, धोती, लुंगी, कमीज बनाने के लिए सामान, पैंट, सलवार, आदि (इसमें सिलाई का खर्च शामिल नहीं है), रेडीमेड कपड़े, अंतर्वस्त्र, जुराबें, कोट, शॉल, दस्ताने, टोपी और बहुत सारी चीज़ें। इसमें बिछौना (तकिया, रजाई, गद्दे, मच्छरदानी, आदि) , कालीन, कम्बल, पर्दे, तौलिया, चटाई और फर्नीचर पर प्रयोग होने वाले कपड़े (असबाब) भी शामिल हैं।

राष्ट्रीय सांख्यकीय सर्वेक्षण 2011–12 के आंकलन के अनुसार, ग्रामीण भारत में इन सामानों पर होने वाला प्रति व्यक्ति कुल खर्च *80 रूपए प्रति माह* या *964 रूपए प्रति व्यक्ति सालाना* था। इतना कम खर्च वाकई निराशापूर्ण है; जबकि यह आँकड़ा सिर्फ एक औसत है, ग्रामीण आबादी का दो–तिहाई तो इन वस्तुओं पर इससे भी कम खर्च करता है (यह अटपटा तो है लेकिन सत्य है कि इनमें से ज्यादातर लोग 'गरीबी' की आधिकारिक परिभाषा के मुताबिक गरीब नहीं हैं। गरीबी की आधिकारिक परिभाषा को ध्यान में रखकर की गई गणना के अनुसार 2011–12 में सिर्फ 25.7 प्रतिशत ग्रामीण आबादी ही गरीब है)। उसी प्रकार से, जूतों–चप्पलों पर प्रति व्यक्ति खर्च 17 रूपए मासिक या 196 रुपए सालाना है।

खर्च के इन बेहद निम्न स्तर की स्थिति में, कृषि सुधार के परिणामस्वरूप ग्रामीण निर्धन जनता की आय में होने वाली बढ़ोत्तरी से वे अपने उपयोग के कपड़ों, बिस्तर–बिछौने, जूता–चप्पल पर खर्च भी ज्यादा करेंगे। क्योंकि कपड़ा और जूता–चप्पल के उत्पादन में संभावित रूप से ज्यादा श्रम और कम तकनीक की आवश्यकता होती है इसलिए कम पूंजी में भी ऐसे उत्पादक इकाईयों को स्थापित किया जा सकता है। (वास्तव में, ग्राहक उपयोगी छोटी–मोटी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन नहीं करते हैं इसलिए ऐसी वस्तुओं के लिए बड़े उद्योग स्थापित करने की कोई आर्थिक आवश्यकता नहीं है।)

आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2016–17 के आँकड़ों के अनुसार, हर एक लाख रुपए के निवेश से वस्त्र उद्योग में 24 नौकरियां (जिसमें एक–तिहाई महिलाओं के लिए), 7 नौकरियां चमड़ा और जूता उद्योग में और 4 नौकरियां कपड़ा उद्योग में सृजित हुईं; और, इसकी तुलना में, ऑटोमोबिल उद्योग में सिर्फ 0.3 प्रतिशत नौकरियां ही पैदा हुईं। यह रेखांकित करते हुए कि 1 करोड़ रूपए का अतिरिक्त निर्यात माँग वस्त्र उद्योग में 8 नौकरियों या चमड़ा और जूता उद्योग में 7 नौकरियों का सृजन करेगा, सर्वेक्षण वस्त्र और चमड़े की वस्तुओं जिनके उत्पादन में अधिक श्रम (ज्यादा नौकरियां) की आवश्यकता होती है, के निर्यात को प्रोत्साहित करने की याचना करता है।[109]

बहरहाल, यह सर्वेक्षण इन वस्तुओं की संभावित भारी घरेलू माँग को नज़रंदाज़ करता है जो मौजूदा कृषकीय ढांचे और मजदूरी की कम दरों के द्वारा दबा दिया जाता है। लोगों के मौजूदा निम्न स्तरीय क्रय–शक्ति पर भी कपड़ों और बिस्तर–बिछौने की घरेलू खरीद (2011–12 में) करीब 1,36,000 करोड़ रुपए की रही होगी, इसके समकक्ष जूतों के लिए यही राशि करीब 29,500 करोड़ रुपए होगी।[110] लोगों की क्रय–शक्ति में बढ़ोतरी इन वस्तुओं की माँग में भारी इजाफा कर सकता है, और बदले में इस बढ़ी माँग को पूरा करने के लिए व्यापक स्तर पर विकेन्द्रित रोजगार भी पैदा होंगे।

इसलिए, कृषि सुधार इस प्रकार के ग्रामीण उद्योगों को वृहद् रूप में बढ़ावा दे सकती है, और कृषि में आंशिक रोजगार पा रहे कार्यबल को *निकाल कर* (न कि जबरदस्ती *धकेल कर*) ग्रामीण रोजगार में विवधता लाने में मददगार भी हो सकती है। और तो और, नयी कृषि व्यवस्था सहकारी कृषि की तरफ बढ़ते ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे स्तर की विनिर्माण इकाईयों की स्थापना के लिए आवश्यक पूंजी के संभावित स्रोतों को भी पैदा कर सकती है। इन सच्चाईयों के बारे में सबको अच्छी तरह से पता है लेकिन इनको अब अप्रचलित और पुराना माना जा रहा है।

इसकी तुलना में आमूल कृषि सुधार निजी–कॉर्पोरेट घरानों को सौगात में कुछ भी वायदा नहीं करता है। यहाँ यह कहने की जरुरत नहीं है कि अपनी गतिविधियों के लिए बड़े उद्यमों की पहुँच पूंजी के प्रचुर स्रोतों तक होती है, जो छोटे ग्रामीण इकाईयों के पास नहीं होती है। इसीलिए यह कह पाना कि बड़े उद्यम निवेश के लिए ग्रामीण संगठनों से सहयोग लेंगे, थोड़ा मुश्किल है। दूसरी बात, ग्रामीण निर्धन से कहीं ज्यादा ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले धनी लोग कॉर्पोरेट क्षेत्र को बाज़ार मुहैया कराते हैं। पुनर्वितरण का ऐसा कोई भी कार्यक्रम निजी कॉर्पोरेट क्षेत्र के बाज़ार को घटा देगा।

109 आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2016–17, पृष्ठ 130, 137.

110 2011–12 की अवधि में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में इन वस्तुओं पर प्रतिव्यक्ति मासिक खर्च को ग्रामीण और शहरी जनसंख्या से गुणा करने पर यह आँकड़ा प्राप्त हुआ है।

सबसे महत्वपूर्ण बात, कृषि में आमूल परिवर्तन प्रभावी तौर पर निजी कॉर्पोरेट क्षेत्र के सामने एक गंभीर *खतरा* खड़ा कर देगा। ऐसे परिवर्तन की वास्तविक प्रक्रिया एक ऐसी सामाजिक उथल–पुथल पैदा करेगी जिसकी मिसाल अभी तक के भारतीय इतिहास में नहीं मिलेगी। यह उथल–पुथल न केवल वैधानिक मान्यता प्राप्त संपत्ति के अधिकारों को भंग करेगी बल्कि जनतांत्रिक लड़ाईयों और जनवादी संगठनों का उफान भी पैदा करेगी। यह सभी बातें मजदूरों के खून–पसीने, राज्य से प्राप्त सब्सिडी और छूटों तथा प्राकृतिक संसाधनों के लूट से मोटे हो चुके कॉर्पोरेट क्षेत्र के लिए राजनीतिक खतरों की तरफ इशारा करती हैं। इसी वजह से, एक समय में जब औद्योगिक विकास को सतत बनाने के लिए कृषि संबंधों में परिवर्तन की जरुरत पर बात करना एक सामान्य बात थी, अर्थशास्त्र में वह प्रश्न ही अब व्यवहारिक नहीं रह गया। वास्तव में, अर्थशास्त्रियों का एक समूह तो यह मानता है कि कृषि से सम्बंधित समस्याएँ और मुद्दे या तो हल हो चुके हैं या अप्रासंगिक हो गए हैं।

यह दो विरोधी नज़रिए एक–दूसरे के विरोधी दो वर्गों के दृष्टिकोणों पर आधारित है। कृषि सुधारों की आवश्यकता की अनुभूति इस बात पर निर्भर करेगी कि *किस प्रकार के औद्योगिक विकास* का प्रयास किया जाता है– यह औद्योगिक विकास क्या मौजूदा निजी क्षेत्रों को और ज्यादा समृद्ध और मोटा करने के लिए है या *औद्योगिक जन–आन्दोलन* पैदा करने के लिए? औद्योगिक जन–आन्दोलन एक अलग सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में ही संभव होगा।

VIII. पच्चीस सालों के उदारवादी नीति का प्रभाव: शोषणकारी शक्तियों का कसता शिकंजा

वर्तमान कृषि संकट के तात्कालिक कारणों की जड़ें पिछले 25 सालों की उदारवादी नीतियों में देखी जा सकती हैं। इन नीतियों में प्रमुख रूप से कृषि से सम्बंधित सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश में कटौती, कृषि को बैंक से मिलने वाले क़र्ज़ में कमी, सार्वजनिक क्षेत्र की प्रसार सेवाओं का लगभग बंद होना, ग्रामीण क्षेत्र में सरकार द्वारा किए जाने वाले खर्चों में कटौती, कृषि क्षेत्र को आयात के लिए खोलना, सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा खरीददारी और मूल्य स्थिरीकरण उपायों में कमी, निविष्टियों (inputs)के शासित मूल्यों (administered prices) में बढ़ोतरी और विभिन्न परियोजनाओं के लिए बड़े पैमाने पर किसानों की जमीनों का जबरन अधिग्रहण शामिल है। ऐसी स्थिति में यह एकदम साफ़ है कि कृषि संकट नवउदारवाद की देन है। और, इन उदारवादी नीतियों का जन्म विदेशी निवेशकों और भारतीय कॉर्पोरेट क्षेत्र (जिनके तार वैश्विक पूंजी से जुड़े हुए हैं) के लुटेरे हितों से जुड़ा हुआ है।

साथ ही, यह सभी नीतिगत उपाय हिन्दुस्तान के मौजूदा कृषकीय ढांचें में संचालित होते हैं। इस लेख में हम इस बात की व्याख्या करेंगे कि असल में 'वैश्वीकरण' और 'उदारीकरण' की नीतियों ने कैसे कृषि संबंधी दमनकारी परिस्थितियों और शोषणकारी शक्तियों के शिकंजे को पहले से कहीं ज्यादा बढ़ा दिया है। इसी दौरान, बैंक लोन में कमी से किसानों पर सूदखोरों का फंदा मजबूत हुआ है। कृषि में उत्पादनकारी शक्तियों में वृद्धि को प्रोत्साहित करने के बजाय व्यवसायीकरण जिस प्रकार से बढ़ रहा है उसने उत्पादकों द्वारा लाभ को दोबारा उत्पादन में निवेश करने के लिए बचाने से रोककर उन्हें ज्यादा निचोड़ा है, और सूदखोरों के सामने उनको पहले की तुलना में ज्यादा लाचार बना दिया है। उदारीकरण की इसी अवधि में विनिर्माण क्षेत्र (manufacturing sector) के रोजगार में आए ठहराव ने कृषि से पर्याप्त जीविकोपार्जन न होने पर भी किसानों को खेतीबारी जारी रखने के लिए विवश कर दिया है। कुछ गैर–कृषि रोजगार जैसे निर्माण क्षेत्र (construction sector)में इजाफा हुआ है, लेकिन यह क्षेत्र काम में लगे लोगों को न ही उचित तनख्वाह मुहैया करता है और न ही किसी प्रकार की सुरक्षा।

महत्वपूर्ण भूमिका

मौजूदा कृषि संबंध हिन्दुस्तान की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को बरकरार रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। विभिन्न क्षेत्रों में मजदूरी की दरों को निम्न रखने के लिए यह बेरोजगार और आंशिक रोजगार में लगे कामगारों की भारी तादाद आरक्षित जत्थे (reserve army)के रूप में उपलब्ध कराता है। यह ग्रामीण जनता पर ग्रामीण संभ्रांतों के प्रभुत्व को भी बनाए रखता है। यह कृषि संबंध एक ऐसे सामाजिक–सांस्कृतिक ढांचे का समर्थन करता है जो शहरों और गांवों में रहने वाले जनसाधारण की सोच को इस कदर ढालता है कि वे आपस में बंटे रहे और शासन–सत्ता के प्रति अधीन रह कर जी–हुजूरी करते रहे

जिससे देश भर में निरंकुश शासन के लिए एक राजनीतिक आधार उपलब्ध हो। इस मौजूदा व्यवस्था के बने रहने और स्वयं को पुनर्सृजित करने के लिए यह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्य बेहद महत्वपूर्ण हैं।

1947 में सत्ता का हस्तांतरण जब भारतीय हाथों में हुआ, उन दिनों सार्वजनिक बहसों में इस बात को स्वीकारा गया कि उस समय की मौजूदा कृषि सम्बन्ध प्रतिगामी थे जिसके चलते न केवल कृषि बल्कि पूरी भारतीय अर्थव्यवस्था या यूँ कहें कि भारतीय समाज के विकास को रोके हुए था। परजीवी शक्तियों (जमींदार, बिचौलियों का समूह, सूदखोर और अधिकारियो) ने वास्तविक उत्पादकों से किराए और अत्यधिक ब्याज की उगाही की। ऐसी दशा में उत्पादन को बढ़ाने के लिए उत्पादकों के पास निवेश करने की क्षमता या प्रलोभन बहुत कम था। इन परजीवी शक्तियों ने खुद उत्पादन गतिविधियों में कोई योगदान नहीं किया लेकिन किसानों से जो लाभ इन्होंने निचोड़ा था उसे विलासी उपभोग की चीज़ों में बहाया या सट्टेबाजी व अन्य शोषणकारी गतिविधियों में लगाया। इस चलन में उत्पादनकारी निवेश जितना जरूरी था उससे कम पड़ गया। कृषक अर्थव्यवस्था पर इन शक्तियों के चंगुल से लाखों उत्पादकों का उपभोग कम हो गया जिसके चलते औद्योगिक वस्तुओं का बाज़ार भी सिमट गया। और तो और, कृषि क्षेत्र के विकास में बाधाओं ने उल्टा अन्य कई तरीकों से औद्योगिक विकास को बाधित और नाकाम भी किया है।[111] बीते समय में यह बाधाएं तमाम अध्ययनों की विषय–वस्तु रही हैं।

इन परिस्थितियों में 'कृषि सुधार' (agrarian reform) और 'ढांचागत परिवर्तन' (institutional change)जैसे पारिभाषिक शब्दों ने उस समय में मौजूदा प्रतिगामी संबंधों को ख़त्म करने, मूल तौर पर शोषक वर्ग की शक्तियों को नष्ट करने या उन्हें कम करने की दिशा में ज़ोर दिया। बहरहाल, तमाम आधिकारिक समितियों, सर्वेक्षणों और कानूनों के बावजूद ऐसे बदलाव लाने में न के बराबर प्रगति हुई जो कि सरकारी तंत्र पर शोषक वर्ग की पकड़ को दर्शाती करता है।

साठ के दशक के मध्य तक 'ढांचागत परिवर्तन' से ध्यान *हटाकर* चुनिंदे और अपेक्षाकृत विकसित इलाकों में 'श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम' की तर्ज पर तात्कालिक अभाव को दूर करने के लिए उत्पादकता में बढ़ोतरी (हरित क्रांति) पर जोर दिया जाने लगा। जिसका आने वाले समय में परिणाम नकारात्मक ही रहा और भारतीय कृषि उन परिणामों से आज भी जूझ रही है। इसमें कोई शक नहीं कि 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में हुए किसानों का सशस्त्र संघर्ष ने ही भूमि सुधार की बात को पुनर्जीवित किया जिसके चलते कई और समितियां एवं कानून बनें लेकिन एक बार फिर से इन समितियों की सिफारिशों और कानूनों को गंभीरता से लागू नहीं किया गया।

उसके बाद 2006 में भूमि संबंधों पर बने योजना आयोग के एक कार्यकारी समूह ने कहा,

111 औद्योगिक विकास होने से कृषि से पैदा होने वाले कच्चे माल की मांग ज्यादा होगी। औद्योगिक रोजगार के बढ़ने पर भोजन की मांग में इजाफा होगा। यदि कृषि समानरूप से विकास नहीं कर पाती है तो बढ़ी हुई मांग से कृषि से प्राप्त होने वाले कच्चा माल और भोजन की कीमतों में बढ़ोतरी होगी जो औद्योगिक विकास को बाधित करेगी।

> अस्सी के दशक के मध्य से चोरी–छिपे और फिर 1991 में आँधी के सामान गरजते हुए उदारीकरण ने जब भारतीय अर्थव्यवस्था में अपने पैर पसारने शुरू किए, भूमि सुधार का मुद्दा भारतीय राजनीति की कार्यसूची से गायब हो गया। यह एजेंडा भुला दिया गया। जमीन के बाज़ार में सरकार के हस्तक्षेप से बाज़ार के संचालक डर जाते हैं, इस दलील के आधार पर सरकार में बाज़ार के पैरोकारों को भूमि सुधार पर बात करना नीरस लगता है। सत्तर के दशक की शुरुआत में केन्द्रीय दिशा–निर्देशों के आधार पर लागू किए गए मौजूदा भूमि सुधार कानूनों को भी यह बाज़ार के पैरोकार न केवल अवांछित रोड़ा बल्कि जमीं के बाज़ार में पूंजी को मुक्त रूप से कार्य करने में हानिकारक मान रहे हैं। इसी वजह से सीधे तौर पर पूंजीवादी कृषि की शुरुआत या परम्परागत फसल–कृषि व्यवस्था की जगह निर्यात के उद्देश्य से ठेका–कृषि से फसल उत्पादन के लिए कृषि क्षेत्र में कॉर्पोरेट घरानों को प्रवेश दिलाने के लिए एक शक्तिशाली लॉबी काम कर रही है। जिसका मकसद भू–हदबंदी की सीमा को बढ़ाना या ख़त्म करना, जोतदारी व्यवस्था को स्वीकारना और भू–पट्टा संबंधित नियमों और शर्तों का निर्धारण मुक्त बाज़ार की शक्तियों द्वारा करवाना है।[112]

'कृषि सुधार' का नया अर्थ

आज के समय में सरकार का मानना है कि मूल रूप में भूमि सुधार (जोतदार को खेत और जमींदार की जायदाद का पुनर्वितरण) की संभावना है ही नहीं; मतलब कि न ही ज्यादा जोतदार हैं और न ही अतिरिक्त जमीन जिसका वितरण किया जाए। आज के दौर में 'सुधार' का मतलब बिलकुल उल्टा है यानि बहुसंख्यको के हित के लिए कृषि योग्य भूमि की सुरक्षा के प्रावधानों को ख़त्म कर संपत्ति को जमीन के खरीददारों और कॉर्पोरेट क्षेत्र को हस्तांतरित करना।

वास्तव में, सिर्फ सरकारी महकमें ही नहीं, प्रभावशाली आर्थिक समीक्षक और शिक्षा जगत भी कृषि योग्य भूमि के संकेन्द्रण को या तो आशावादी या फिर भाग्यवादी नज़रिए से देखते हैं। यह सौ आना सच है जो वे कहते हैं कि जमींदारों ने तमाम हथकंडे अपनाकर यहाँ तक कि कानून में निहित कमियों को भी हथियार बनाकर भूमि हदबंदी के कार्यक्रम से बच निकले। यह भी सच है कि एक के बाद एक आने वाली सरकारों ने भी वास्तविक भूमि सुधार कार्यक्रम को लागू करने में राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी दिखाई। सच बात यह भी है कि पिछले छह दशकों में जितना भू–क्षेत्र अधिशेष जमीन के रूप में घोषित किया गया वह कुल कृषि योग्य जमीन का 2 प्रतिशत से भी कम था, और असल में वितरण उससे भी कम ही हुआ जिसमें से अधिकतर ज़मीन ख़राब क़िस्म की थी। इसके बावजूद, वे कहते हैं कि केवल जनसंख्या वृद्धि और जोत के आकार का लगातार छोटे होने से जमीन के पुनर्वितरण की माँग बेतुकी और यहाँ तक कि हानिकारक बन गई है। आज के समय में बड़े जोत कुल जोत का बहुत ही छोटा हिस्सा है मतलब बहुत ही कम जमीन बड़े जोत की श्रेणी में आती है और उसके मालिक पहले की तुलना में कम प्रभावशाली हैं। और यही नहीं, यह समीक्षक कहते हैं कि जमीन आज के समय में उतनी महत्वपूर्ण संपत्ति नहीं रह गई है जितना पहले हुआ करती थी। इसलिए, ऐसा हो सकता है कि हदबंदी से उपलब्ध बहुत कम अतिरिक्त ज़मीन के वितरण से चंद बेहद गरीब परिवारों को कुछ राहत मिल सके, लेकिन ऐसा

112 योजना आयोग, 11वीं पंच–वर्षीय योजना के लिए भूमि सम्बन्धों पर बने कार्य समूह की रिपोर्ट (Planning Commission, Report of the Working Group on Land Relations for Formulation of the 11th Five–Year Plan), पृष्ठ 28।

पुनर्वितरण कृषि संकट से निपटने या कृषि क्षेत्र में बदलाव लाने के लिए ज्यादा कारगर नहीं है। तो यह है भूमि सुधार को देखने का प्रचलित नजरिया।

इसी तरह, जोतदारी[113] की व्यवस्था के प्रति सरकारी मानसिकता को देखना भी बड़ा रुचिकर है। पिछले कई दशकों में हमने अजीबोगरीब प्रगति को होते हुए देखा है: शुरुआत में जोतदारी व्यवस्था को एक ऐसा महत्वपूर्ण कारण माना जाता था, शायद सबसे बड़ा, जो कि कृषि के विकास में अड़चन थी। और इसीलिए, जोतदारों के हितैषी मालूम पड़ने वाले कानूनों को पारित किया गया। लेकिन जिस तरह से इन कानूनों (या उनकी कमियों) की व्याख्या की गई और उन्हें लागू किया गया वह जोतदारों पर हमले के समान थी। बड़े पैमाने पर जोतदारों की जमीन से बेदखली हुई; उसके बाद भी जोतदारी चलती रही लेकिन छिप–छिपा कर जिसके चलते जोतदार पहले से ज्यादा असुरक्षित हो गए। साथ ही साथ, इस डर से कि कानून की वजह से जमीन छिन जाएगा, छोटे और बड़े दोनों तरह के भूस्वामियों की काफी जमीन परती पड़ा रहा। इस दुखद हालात, जिसके लिए भू–खरीददार और उनके सरकारी तंत्र जिम्मेदार हैं, को जोतदारी व्यवस्था को पुनर्जीवित करने और उसे वैधानिक बनाने के लिए एक दलील बना दिया गया।

किसान आत्महत्या की असामान्य घटना, जो कि उदारवादी शासन व्यवस्था में तेजी से बढ़ी है, ने कृषि से जुड़े दो अन्य पक्षों को लोगों के सामने ला खड़ा किया है: सूदखोरों द्वारा शोषण और व्यापारियों द्वारा शोषण। हालाँकि, आर्थिक समीक्षक जिनकी आजकल खूब चलती है वे इन दोनों सवालों को एक–दूसरे से अलग देखते हैं (भले ही सूदखोर और व्यापारी दोनों एक ही क्यों न हो, पंजाब में ऐसे लोगों को आढ़तिया के नाम से जाना जाता है)। और, वे (आर्थिक समीक्षक) इन दोनों सवालों को जमीन के सवाल से भी अलग करके देखते हैं। समस्या के समाधान लिए उनके जिस सुझाव को तत्परता से स्वीकार कर लिया जाता है वह है बाहरी हस्तक्षेप– जैसे कि किसानों का बैंक खाता खुलवाकर उनका 'वित्तीय समावेश' और किसानों के उपज को सीधा कॉर्पोरेट क्षेत्र द्वारा खरीदा जाना जो कि आर्थिक समीक्षकों को लगता है कि इससे किसानों को उनकी उपज का ज्यादा कीमत मिलेगा। क्यूँकि वे पहले से ही यह सोच कर बैठे हैं कि ज्यादातर किसान निकट भविष्य में खेतीबाड़ी करना छोड़ देंगे इसीलिए वे ऐसी समस्याओं को चाहे वे कितनी बड़ी ही क्यों न हो अस्थायी मानते हैं।

---

113 फादर कामिल बुल्के अंग्रेजी–हिंदी शब्दकोष के अनुसार 'tenancy' का अर्थ 'काश्तकारी' होता है लेकिन अपने पाठकों के लिए सरल भाषा के उपयोग की दृष्टि से यहाँ पर 'tenancy' शब्द का अनुवाद 'जोतदारी व्यवस्था' और 'tenant' का 'जोतदार' किया गया है। 'जोतदारी' शब्द को प्रयोग करने का एक दूसरा उद्देश्य हिंदी में इसके समीप अर्थ वाले शब्दों जैसे बँटाईदारी, ठेका–कृषि आदि से अंतर को भी स्पष्ट करना है। एक व्यापक अर्थ में जोतदारी एक ऐसी व्यवस्था की ओर इशारा करता है जिसमें एक जोतदार (tenant) का एक निश्चित आकार के जोत (farm land) पर खेती करने के लिए अस्थायी कब्ज़ा होता है और इस जोत पर स्वामित्व भू–स्वामी (landowner) का होता है, जोतदार को इस अस्थायी कब्ज़ा के लिए भू–स्वामी को नकद (cash), उपज में हिस्सा (share of produce) या श्रम (labour) के रूप में उस अवधि तक किराया देना पड़ता है जब तक जोतदार का कब्ज़ा जोत पर रहता है।

किसानों की आत्महत्या की घटना तथाकथित 'वैश्वीकरण' की नीतियों– कृषि उत्पादन में लगने वाली वस्तुओं की बढ़ती कीमतें, बीज के लिए मोनसैंटो (Monsanto)जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर निर्भरता, निजी प्रसार सेवा पर निर्भरता, सार्वजनिक खरीद को संयोजित ढंग से ख़त्म करना, कृषि आयात के लिए देश के बाज़ार को खोलना और वस्तुओं के वैश्विक कीमतों में उतार–चढ़ाव से बढ़ी लाचारी आदि से भी जुड़ी हुई है। साथ ही, इस प्रकार के शोषणों में स्थानीय प्रभुत्वशाली वर्ग काफी बढ़–चढ़ कर हाथ बँटाते हैं।

ग्रामीण धनिकों का बोलबाला

वर्तमान में प्रचलित विचार के विपरीत, भूमि संबंधित असमानता, जोतदारी व्यवस्था, सूदखोरी और व्यापारियों का शोषण जैसे सवाल न तो पुराने हुए हैं और न ही यह अस्थायी हैं। बल्कि, बड़े पैमाने की क्षेत्रीय विभिन्नता को दर्शाने के लिए भी यह सवाल अभी भी महत्वपूर्ण हैं। इन सवालों का समाधान ही भारतीय कृषि की स्थिति और भारतीय समाज में भावी प्रगतिशील बदलाव लाने के लिए आधार का काम करेंगे। इन सवालों के तह में जाने का प्रयास न भी करे फिर भी यह सवाल आज भी क्यों महत्वपूर्ण हैं इस बात को मोटे तौर पर समझना जरूरी है। यहाँ हमारा उद्देश्य अकादमिक ज्ञान बढ़ाना और यथास्थिति को जानना नहीं हैं, बल्कि यह समझना है कि जनसाधारण की ताकत से मौजूदा (कृषि) संबंधों में आमूल बदलाव कैसे लाया जाए।

एक योजनाबद्ध कृषकीय परिवर्तन के किसी भी कार्यक्रम को एक राजनीतिक प्रक्रिया के द्वारा ही अंजाम देना होगा, और इसीलिए *राजनीतिक सत्ता* मतलब कि वर्ग शासन से जुड़े सवालों का भी सामना करना होगा। (इसी तरह भारतीय राजनीतिक सत्ता से जुड़े किसी सवाल का जवाब देने का प्रयास करने पर भारतीय कृषि से जुड़े सवालों का भी सामना करना होगा।) पिछले छह दशकों में हुए तमाम परिवर्तन, पूरे देश में अलग–अलग परिस्थितियों और 'पंचायती राज' के आधिकारिक रूप से फैलाव के बावजूद आज भी हिन्दुस्तान के गांवों को छोटे भू–मालिकों व किसानों का लोकतंत्र कह पाना मुश्किल है। बल्कि, भारतीय गाँव एक ऐसा भौगोलिक स्थान है जहाँ ग्रामीण धनिक वर्ग की बेहद दमनकारी और मनमानी शक्तियों का प्रदर्शन होता है।

जैसा कि हिन्दुस्तान में परिवारों के पास कितना धन है इसको जानने के लिए हुआ एक अध्ययन स्पष्ट रूप से इस बात को रखता है कि "आज भी ग्रामीण हिन्दुस्तान में जमीन संपत्ति और शक्ति का प्रतीक और वस्तु बना हुआ है।"[114]

ग्रामीण धनिकों द्वारा शक्ति प्रयोग और उनके प्रभाव का आधार भू–स्वामित्व है। अन्य कारक जैसे– उत्पादन के बाकी साधनों पर मालिकाना हक़, नाममात्र के सामूहिक संसाधन (पानी, सामूहिक जमीन, सरकारी जमीन) पर नियंत्रण, जातिगत प्रभुत्व, सरकारी अधिकारियों और राजनीतिक दलों के नेताओं के साथ उठना–बैठना,

114 एस. सुब्रामनियन, डी. जयराज,"भारत में घरेलू पूंजी का वितरण", यू. एन. यू. – वाइडर (S. Subramanian, D. Jeyaraj, "The Distribution of Household Wealth in India", UNU–WIDER), 2006.

चुनावों पर पकड़ आदि भी भू–स्वामित्व के *तालमेल* से काम करती है। एक रसूखवाला जमीन मालिक, निवेश की वस्तु, उपज और श्रम के बाज़ार को भी प्रभावित करता है।

विकसित देशों से उलट, हिन्दुस्तान में जो परिवार आय के मामले में जितना ऊपर हैं, उनमें संपत्ति विविधीकरण उतना ही कम है। मतलब यह हुआ कि कुल संपत्ति में जमीन का हिस्सा धन के साथ बढ़ता है। ग्रामीण परिवारों का 14 प्रतिशत सबसे ज्यादा धनी परिवार हैं जिनकी कुल संपत्ति में 73 प्रतिशत हिस्सा जमीन का, 15 प्रतिशत हिस्सा घर–बिल्डिंग का जबकि एक छोटा हिस्सा मशीनरी, औजार और वित्तीय संपत्ति का है। पिछले कई दशकों से कुछ छोटे–मोटे बदलाव के साथ यह स्थिति बरकरार है।[115]

समय के साथ, 10 हेक्टेअर से ज्यादा वाले जायदाद के अंतर्गत कुल क्षेत्रफल में तो कमी हुई है लेकिन इसी दौरान प्रति हेक्टेअर उत्पादन भी बढ़ा है। इस बीच, भूस्वामित्व में असमानता में कमी नहीं आयी। 2013 में जारी हुए भारतीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey)के जमीन और पशुधन जायदाद (land and livestock holdings)के नवीनतम आँकड़ों के अनुसार 2.2 प्रतिशत जायदाद वालों के पास कुल क्षेत्रफल का 24.6 प्रतिशत है और 7.2 प्रतिशत जायदाद वालों के पास कुल क्षेत्रफल का 46.7 प्रतिशत है।

वर्ग विभाजन

उदारवादी नीतियों के तहत पूरी कृषि जहाँ एक तरफ बुरी तरफ से प्रभावित हुई है, वहीं दूसरी तरफ कृषि में विभिन्न वर्गों के बीच की खाई और भी चौड़ी हो गई है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (NSS)के अनुसार, छोटे और सीमान्त परिवार (जिनके पास 2 हेक्टेअर से कम जमीन है) किसानी करने वाले कुल परिवार का *87 प्रतिशत* है। किसानी (कृषि और पशुपालन) से प्राप्त होने वाली उनकी कुल औसत आय बहुत कम है, वास्तव में उनके द्वारा उपभोग पर किए जाने वाले खर्च से भी *कम* जो कि इस बात का सबूत है कि वे अन्य क्षेत्रों से कमाई करके, उधार लेकर या अपनी संपत्ति बेचकर किसी तरह से गुजर–बसर कर रहे हैं। लेकिन, ऐसे परिवार जिनके पास 4–10 हेक्टेअर जमीन है उनकी किसानी से प्राप्त होने वाली आय छोटे और सीमान्त परिवारों की औसत आय की *6.4 गुना* है। वहीं ऐसे किसान परिवारों की आय जिनके पास 10 हेक्टेअर से ज्यादा जमीन है छोटे और सीमान्त परिवारों की आय का *14.5 गुना* है।[116]

---

115 पूर्व संदर्भित। कर्ज और निवेश पर किए गए नवीनतम सर्वेक्षण (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) 70वां राउंड, 2013) में कुल सम्पत्ति में जमीन का हिस्सा बहुत तेजी से बढ़ा है, लेकिन जमीन की कीमत का यह आंकलन एक अलग विधि से, यानी कि जानकारी उत्तरदाताओं से न लेकर कुछ मानकों और दिशा–निर्देशों के अनुसार, करने की वजह से है।

116 राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) के 70वें राउंड में कृषकीय परिवारों पर किया गया स्थिति आंकलन सर्वेक्षण (situation assessment survey)। हिन्दुस्तान में कृषि सम्बन्ध पर प्रोजेक्ट (Project on Agrarian Relation in India) के तहत किया गया गावों का सर्वेक्षण इस असमानता की पुष्टि करता है।

जैसा कि सभी सर्वेक्षणों में होता है, ऊपरी तबके की आय को कम करके आँके जाने की संभावना है। जिनके पास कम जमीन है उनको कृषि उत्पादन के लिए जरूरी चीज़ों को शायद अधिक कीमत (या अपर्याप्त मात्र में) खरीदना पड़ता है। संभावना यह भी है कि उनके पास सिचाई के साधनों का आभाव हो और उन्हें बैंक से लोन प्राप्त करने की सुविधा न मिलती हो। उनको मजबूरन अपने उपज को ज्यादा जायदाद वाले की तुलना में शायद कम कीमत पर ही बेचना पड़ता हो।

उदारवादी व्यवस्था के दौरान एक दूसरा वर्ग जो विशेष रूप से फला–फूला है वह है सूदखोरों का वर्ग। आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार, 1991 से 2012–13 के बीच ग्रामीण कर्ज में साहूकार, व्यापारी और जमींदार का हिस्सा 6 प्रतिशत बढ़ा है और इसी अवधि में ग्रामीण परिवारों का प्रतिशत हिस्सा 8 बिंदु बढ़ा है।[117] यह सब सिर्फ सूदखोरों को होने वाली आमदनी के फलस्वरूप नहीं बल्कि, एक हद तक, कर्ज में डूबे लोगों द्वारा अपनी जमीन और अन्य संपत्ति को हस्तांतरित करने से भी हुआ होगा। व्यापारी द्वारा कृषि निवेश की वस्तुओं की कीमत को बढाकर और किसानों के उपज की कीमतों को गिराकर साहूकारी और व्यापार को जोड़ दिया गया है।

इस तरह से जहाँ कुछ वर्ग लाभ की उगाही करने में सक्षम हैं वहीं अपनी जायदाद को इकट्ठा कर और किराए पर श्रम खरीद कर पूंजीवादी किसानी करने वाला गतिशील वर्ग प्रबल नहीं हो पाया है। छोटी जायदाद में होने वाली लगातार बढ़ोतरी भारतीय कृषि की एक विचित्र खासियत है। 1970–71 में हुए पहले कृषकीय जनगणना में कृषि जनसंख्या 71 मिलियन (1 मिलियन= 10 लाख) थी जो धीरे–धीरे बढ़कर 2010–11 में 138.4 मिलियन हो गई। इस प्रकार से, पहले से ही छोटे आकर की जायदाद जो कि 1970–71 में 2.28 हेक्टेअर थी और कम होकर 2010–11 में महज *1.15 हेक्टेअर* हो गई।[118]

कृषकीय जनतंत्रीकरण: एक आवश्यक कदम

यह दर्शाया जा चुका है कि जोत के आधिकारिक आँकड़ों के आधार पर हदबंदी की सीमा 8 हेक्टेअर लागू करने पर आजतक वितरित की गई कुल जमीन का तीन गुना ज्यादा जमीन वितरण के लिए उपलब्ध होगा।[119] इसमें कोई शक नहीं है कि यह जानकारी हिन्दुस्तान में भूमि सुधार की प्रक्रिया का खुलासा करती है, लेकिन यह जिस प्रक्रिया की बात करता है वह 1949–52 के दौरान भूमि सुधार के लिए चीन द्वारा अपनाए गए तरीकों से पूरी तरह अलग है।

---

117 48वाँ एवं 70वाँ राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (National Sample Survey)।

118 कृषि मंत्रालय, 2010–11 की कृषि–जनगणना पर अखिल भारतीय रिपोर्ट (Ministry of Agriculture, All India Report on Agricultural Census 2010–11), 2015.

119 विकास रावल,"ग्रामीण भारत में भूमि का स्वामित्व: सही हालत बयान करते हुए",ई. पी. डब्लू., (Vikas Rawal, "Ownership Holdings of Land in Rural India: Putting the Record Straight"), EPW, 8/3/2008.

पहला, यह बात याद करने लायक है कि भूमि सुधार के पहले चीन में जमींदारों के जोत का आकार 8 हेक्टेअर से थोड़ा ज्यादा था और धनी किसानों का 2.5 हेक्टेअर था।[120] (जमींदार और धनी किसान कौन हैं, इस बात का निर्धारण जोत के आकार पर नहीं बल्कि उत्पादन व्यवस्था में उनकी भूमिका और उत्पादन के साधनों से उनके संबंधों से होती थी।) आज के समय में हिन्दुस्तान में हदबंदी की जिस सीमा की बात हो रही है 1949 से पहले के चीन में लागू करने पर वितरण के लिए शायद बहुत कम जमीन उपलब्ध करा पाती। दूसरा, चीन में सिर्फ'हदबंदी से प्राप्त अधिशेष जमीन' का ही पुनर्वितरण नहीं हुआ बल्कि जमींदारों की *पूरी* जमीन और धनी किसानों को पट्टे पर दी गई जमीन जब्त कर ली गई थी। और, पुनर्वितरण की प्रक्रिया के दौरान जमींदार परिवारों को भी उतनी ही जमीन दी गई जितना कि गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों को भूमि सुधार के बाद भू–मालिक के रूप में प्राप्त हुई थी। तीसरा, जमीन का अधिग्रहण और वितरण सरकारी अधिकारियों द्वारा नहीं किया गया था। नई-नई बनी जनतांत्रिक व्यवस्था जो तीन सालों से ज़मींदार वर्ग के प्रभुत्व के खिलाफ किसानों को जागरूक और संगठित कर उनको नियंत्रित करने वाली सामाजिक–सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक बाधाओं पर काबू पाने और खुद से जमीन का वितरण करने में लगी हुई थी। यह पूरी प्रक्रिया गांवों में सामंती शक्तियों की सत्ता के टूटने और उसके स्थान पर नए जनवादी सत्ता की स्थापना की तरफ इशारा करती है।

बिना इसके, चीन को सहकारिता (cooperative) और कम्यून व्यवस्था की ओर बढ़ने के लिए जनतांत्रिक आधार उपलब्ध ही नहीं होता। 1956 में हिन्दुस्तान ने कोऑपरेटिव और कृषि संबंधी योजना का अध्ययन करने के लिए दो उच्च–स्तरीय प्रतिनिधिमंडलों को चीन भेजा था।

इन प्रतिनिधिमंडलों की रिपोर्टों ने बिना किसी हैरानी के इस बात का जिक्र किया कि चीन की उल्लेखनीय सफलता उनके द्वारा ग्रामीण वर्ग संरचना में किए गए बदलाव की देन है और उसी तरह के परिवर्तन के बगैर हिन्दुस्तान में कृषि संबंधों के मामले में चीन जैसी स्थिति की संभावना बहुत कम है: "कृषि सहकारी समितियों के गठन के लिए एक अनुकूल माहौल तैयार करने के लिए...समानता पर आधारित गैर–शोषणकारी माहौल होना चाहिए। ऐसा माहौल बनाने में भूमि सुधार एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।" इस विचार को सरकार के तमाम प्रभावशाली सलाहकारों ने कई बार दोहराया है। उदहारण के लिए, डेनियल थॉर्नर ने लिखा है: "ग्रामीण सहकारी समिति की सफलता थोड़ा ही मगर सामाजिक समानता, राजनीतिक जनतंत्र और आर्थिक व्यवहार्यता की माँग करता है। यह पूर्वस्थिति हिन्दुस्तान में मौजूद नहीं रही है...दो चीज़ें जरूर होनी चाहिए: 1– गांवों में धनिकों की सत्ता को तोड़ना...और 2– सरकार को आम जनता का हथियार बनना चाहिए..."[121]

---

120 पीटर स्चरन, 1950–59 के बीच चीन की कृषि का विकास; जॉन जी गुर्ली, चीन की अर्थव्यवस्था एवं माओवादी रणनीति, पृष्ठ 239 से उद्धृत (Peter Schran, The Development of Chinese Agriculture 1950–59, 1969, cited in John G. Gurley, China's Economy and the Maoist Strategy, p. 239.

121 हमज़ा अलवी, "भारत एवं औपनिवेशिक उत्पादन पद्विती, ई. पी. डब्लू., विशेष अंक, (Hamza Alavi, "India and the Colonial Mode of Production", EPW, Special Number), अगस्त 1975। वह चीन गए भारत के प्रतिनिधिमंडल का

इस प्रकार से, भूमि सुधार सिर्फ आवंटन क्षमता (allocative efficiency) को बेहतर नहीं करता है, बल्कि कृषि क्षेत्र के *विकास* और जनतंत्रीकरण में पहला आवश्यक कदम है जो कि पूरे देश में उत्पादन शक्तियों के सतत और संतुलित विकास के लिए एक जरूरी शर्त भी है।

भूमि आधारित असमानता का कमतर आंकलन

आधिकारिक आँकड़े असमानता की वास्तविक दर को बहुत कम करके दर्शाते हैं क्योंकि जोत का एक बड़ा हिस्सा आधिकारिक आँकड़ों से गायब है। यह बात अच्छी तरह से मालूम है कि भू–हदबंदी कानूनों से बचने के लिए जमीन अक्सर दूसरे या फर्जी नामों (*बेनामी* जायदाद) के तहत रखी जाती है जो कि असमानता को छिपाता है और बड़ी जायदाद को छोटी–छोटी विभिन्न जायदादों के रूप में दिखाता है। इसके आगे, जैसा कि एक ताजा अध्ययन बताता है, NSS की सर्वेक्षण पद्धति(methodology) खुद सबसे बड़े जायदादों को गणना में शामिल करने की संभावना को कम करती है जिसकी वजह से देश में सबसे बड़े भू–स्वामियों के पास कुल जमीन और कृषकीय जायदादों में पाई जाने वाली असमानता का आंकलन काफी कम हो पाता है। यह बात कुल जमा फसली जमीन के बारे में NSS के आँकड़े और अन्य आधिकारिक स्त्रोतों (जो कि कुल जमा आँकड़ों के लिए ज्यादा विश्वसनीय और पूर्ण मने जाते हैं) से प्राप्त आँकड़ों के बीच एक बहुत बड़े अंतर को स्पष्ट करता है। समय के साथ यह अंतर चिंताजनक रूप से बढ़ रहा है। एक ताजा आँकडें में NSS और दो अन्य स्त्रोतों के बीच अंतर का फासला क्रमशः *38 और 46 प्रतिशत* है।[122]

फिर भी, NSS के आँकड़ों का उपयोग करते हुए एक अध्ययन यह उजागर करता है कि नीचे के 50 प्रतिशत परिवारों द्वारा जोते जाने वाली जमीन की प्रतिशतता में गिरावट आयी है, और सर्वोच्च 10 प्रतिशत परिवारों द्वारा जोती जाने वाली जमीन की प्रतिशतता में कुछ बढ़ोतरी हुई है (तालिका 8 देखें)।[123] *नवउदारवादी नीतियों के शासन काल में नीचे से आधा ग्रामीण परिवारों द्वारा जोते जाने वाली जमीन 4.1 प्रतिशत से गिरकर 0.4 प्रतिशत*

कृषि सहकारी समितियों पर रिपोर्ट का हवाला देते हैं (Report of the Indian Delegation to China on Agrarian Co–operatives, p 150), एवं डैनीयल थोरनेर, "ग्रामीण भारत में सहकारी समितियों का संदर्भ", एकोनोमिक वीकली, 13वाँ वार्षिक अंक, (Daniel Thorner, "Context for Cooperatives in Rural India", Economic Weekly, 13th Annual Number), फ़रवरी 1962.

122 दीपक कुमार, "ग्रामीण भारत में भू–स्वामित्व में विसंगतियाँ: कुल और वितरण संबंधी प्रभाव", आर. ए. एस. (Deepak Kumar, "Discrepancies in Data on Landholdings in Rural India: Aggregate and Distributional Implications", RAS), जनवरी–जून 2016. राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) 2013 में दिया गया कुल जोत का आँकड़ा कृषकीय जनगणना 2010–11 के आँकड़े से 38 प्रतिशत कम है;और यह 2013 के कृषि योग्य जमीन के उपयोग के आँकड़े से 46 प्रतिशत कम है।

123 विकास रावल, ग्रामीण भारत में परिचालन भूमि के वितरण में परिवर्तन: राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़ों का एक अध्ययन, आर. ए. एस. (Vikas Rawal, "Changes in the Distribution of Operational Landholdings in Rural India: A Study of National Sample Survey Data", RAS).

हो गई है, जबकि ऊपर के 10 प्रतिशत परिवारों द्वारा जोते जाने वाली जमीन में 1.6 प्रतिशत बिन्दुओं की बढ़ोतरी हुई है।

तालिका 8: नीचे के 50% एवं ऊपर के 10% ग्रामीण परिवारों की कुल जोत						
	1987–88	1993–94	1999–2000	2004–05	2009–10	2011–12
नीचे के 50%	4.1	3.8	2.7	1.9	0.8	0.4
ऊपर के 10%	48.6	47.9	49.6	48.9	50.3	50.2

अध्ययन आगे यह भी दर्शाता है कि भूमिहीन ग्रामीण परिवारों (जिनके पास खेती के लिए जमीन नहीं है) के प्रतिशत में तेजी से वृद्धि हुई है जो कि कुल ग्रामीण परिवारों का लगभग आधा है।[124] (सामाजिक–आर्थिक और जातिगत जनसंख्या, 2011, ग्रामीण भूमिहीन परिवारों का आँकड़ा 56 प्रतिशत बताता है।) यह ऐसे परिवार हैं जो कि पहले से ही मुख्य रूप से मजदूरी पर निर्भर थे, लेकिन अगर उनके पास जो थोड़ी बहुत खेती लायक जमीन थी भी तो वह भी उनके हाथ से चली गई है।

यह अध्ययन इस बात का जिक्र करता है कि इसी समय में कृषि में स्व–नियोजित परिवार (यानी आत्मनिर्भर किसान) के अनुपात में थोड़ी कमी आयी है। मतलब कि *कृषि से बहुत ही कम फायदा होने की स्थिति में भी गरीब किसान खेतीबारी में लगे हुए हैं*।

सार्वजनिक संपत्ति संसाधन

सार्वजनिक संपत्ति संसाधन (common property resources)ग्रामीण इलाकों में रहने वाली एक बड़ी आबादी जिसमें मुख्य रूप से दलित और आदिवासी शामिल हैं के जीवन निर्वाह का महत्वपूर्ण साधन है। NSS के हवाले से,

> सार्वजनिक संपत्ति संसाधनों और वन भूमि के सामुदायिक प्रबंधन की व्यवस्थाएं परंपरागत रूप से देश के कई भागों में 19वीं शताब्दी के अन्त तक मौजूद थी। देश के प्राकृतिक संसाधनों का काफी बड़ा हिस्सा सार्वजनिक संपत्ति थी, ऐसे में व्यापक किस्म के जरूरी संसाधन ग्रामीण आबादी के लिए बिना रोक–टोक उपलब्ध थे। 19वीं शताब्दी के आखिरी वर्षों में 'आरक्षित' और 'संरक्षित' जंगलों की घोषणा से शुरू हुए सार्वजनिक संसाधनों पर राज्य के नियंत्रण की प्रक्रिया ने वास्तव में कानून के माध्यम से सार्वजनिक संसाधनों तक ग्रामीणों की पहुँच पर रोक लगा दी। परिणामस्वरुप, सामुदायिक प्रबंधन की व्यवस्थाएं धीरे–धीरे टूटती गई और आज हकीकत में विलुप्त हो गई हैं।

124 रावल भूमिहीन परिवारों को ऐसे लोगों के रूप में परिभाषित करते हैं जो किसी भी जमीन पर खेती नहीं करते हैं, जबकि उनके पास घर से जुड़े जमीन के छोटे टुकड़े हो सकते हैं। ऐसे परिवार 1987–88 में 38.7 प्रतिशत से बढ़कर 2011–12 में 49 प्रतिशत हो गए हैं। कृषि में स्व–रोजगार पर मुख्य रूप से निर्भर ऐसे परिवारों की प्रतिशतता में काफी कमी आयी है। आँकड़ो के मुताबिक 1987–88 में ऐसे परिवार 37.3 प्रतिशत थे जो कि 2011–12 में घटकर 34.3 प्रतिशत हो गए हैं।

> आज देश के लगभग सभी हिस्सों में, ग्रामीणों के पास सिर्फ एक विशेष श्रेणी की जमीन का उपयोग करने का अधिकार है। इस श्रेणी में गाँव और ग्राम पंचायत के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले 'चरागाह भूमि' और 'गाँव के जंगल' शामिल है। जमीन की अन्य श्रेणियां जो निजी स्वामित्व के अंतर्गत नहीं हैं जैसे बंजर और खेती के अयोग्य जमीन, कृषि योग्य बंजर जमीन, ऐसी जमीन जिसका गैर–कृषि कार्यों में उपयोग हो रहा हो और वन–भूमि राज्य राजस्व विभाग या वन विभाग के नियंत्रण में होती है। फिर भी, ग्रामीण आबादी विशेषकर गरीब जनता जमीन की इन श्रेणियों से प्राप्त होने वाले वस्तुओं और सुविधाओं पर खासा निर्भर होते हैं।[125]

NSS के अनुसार, देश के भौगोलिक क्षेत्र का 15 प्रतिशत सार्वजनिक संपत्ति भूमि संसाधन (common property land resources)है। इसमें से करीब 6 प्रतिशत में सामुदायिक चरागाह और गाँव के जंगल और बगीचे शामिल हैं। देश में कुल परिवारों का करीब आधा सार्वजनिक जमीन सम्पत्ति संसाधनों से वस्तुएं प्राप्त करता है, और सिचाई करने वाले कुल परिवारों का दो–तिहाई सिचाई के लिए पानी सार्वजनिक जल संपत्ति संसाधनों (common property water resources)से प्राप्त करते हैं। ग्रामीण इलाकों में जहाँ 62 परिवार इंधन के रूप में जलावन लकड़ी का प्रयोग करते हैं, आधे से ज्यादा जलावन लकड़ी– प्रति परिवार प्रति वर्ष आधा टन लकड़ी– सार्वजनिक जमीन संपत्ति संसाधनों से आते हैं। ग्रामीण इलाकों में आधे से ज्यादा परिवार पशु पालते हैं और इनमें से आधे से ज्यादा परिवार पशुओं के चारे के लिए सार्वजनिक संपत्ति भूमि संसाधन का प्रयोग करते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में जहाँ आदिवासी काफी संख्या में रहते हैं यह सभी ज्यादा हैं। गाँव के पिछड़ेपन और परिवार की गरीबी बढ़ने के साथ सार्वजनिक संपत्ति संसाधनों पर निर्भरता बढ़ती है।

जब तक सार्वजनिक संपत्ति संसाधनों का उपयोग गुजर–बसर और जरूरतों को प्रत्यक्ष तौर पर पूरा करने के लिए होता है, तब तक यह संसाधन मौद्रिक मूल्य (monetary value)में तब्दील नहीं होते हैं। फिर भी एक अध्ययन ने पारिस्थितिकीय तंत्र से मिलने वाली सेवाओं और अन्य गैर–बाजारू प्राकृतिक वस्तुओं का मौद्रिक मूल्य रखने का प्रयास किया है। अध्ययन की पद्धति से यह आंकलन किया गया कि हिन्दुस्तान के गांवों और जंगलों में रहने वाले 35.2 करोड़ लोगों की जीविका में 47 प्रतिशत योगदान सार्वजनिक संपत्ति संसाधनों का होता है।[126]

देश के भौगोलिक क्षेत्र में सार्वजनिक संपत्ति भूमि संसाधनों का हिस्सा वास्तव में 15 प्रतिशत से भी ज्यादा है। एक अध्ययन NSS के द्वारा दी गई सार्वजनिक संपत्ति भूमि संसाधन की परिभाषा के अलावा इस बात का जिक्र करता है कि "बेहद दूर–दराज के जंगलों को छोड़कर सरकारी जंगलों को भी सार्वजनिक संपत्ति के रूप में

---

125 राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण रिपोर्ट संख्या 452 (NSS Report no. 452), जनवरी–जून 1998.

126 बेत्रिज राड्रीगेज़–लबाज़ोस एवं जोन मार्टिनेज़–एलीर द्वारा "पारितंत्र एवं जैव विविधता का अर्थशास्त्र: बहस के लिए हालिया उदाहरण", कॉन्सर्वेशन एंड सॉसाययटी, 2013 में उद्धृत (Cited in Beatriz Rodríguez–Labajos and Joan Martínez–Alier, "The Economics of Ecosystems and Biodiversity: Recent Instances for Debate", Conservation and Society, 2013.)

प्रयोग किया जाता है। क्यूँकि ऐसे सरकारी जंगल देश के कुल भू–भाग का कम से कम 19.3 प्रतिशत हैं, इसलिए मोटे तौर पर देश के 34 प्रतिशत भू–भाग को सार्वजनिक जमीन माना जा सकता है।"[127] वास्तव में, "सरकारी आँकड़ों के अनुसार ही हिन्दुस्तान के कम से कम आधे जंगल वनाधिकार कानून में परिभाषित सामुदायिक जंगल के अंतर्गत आते हैं...बहरहाल, इस क्षेत्र का मुश्किल से 1.2 प्रतिशत ही चिन्हित कर उसे सामुदायिक जंगल के रूप में मान्यता दी गई है।"[128]

सिर्फ नाम के सार्वजनिक जमीन का बड़ा हिस्सा निजी हाथों के नियंत्रण में हैं और बाकी बचे जमीन पर अतिक्रमण तेजी से जारी है। सार्वजनिक संपत्ति भूमि संसाधनों की संकुचित *कानूनी* परिभाषा को भी अपनाने पर NSS पाता है कि सार्वजनिक संपत्ति भूमि संसाधन प्रत्येक पांच वर्ष में लगभग 2 प्रतिशत की दर से घट रहे हैं। कुछ अध्ययनों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए चोपड़ा और दासगुप्ता कहते हैं:

> हिन्दुस्तान के सूखाग्रस्त क्षेत्र के सात राज्यों के 82 गांवों का जोधा द्वारा किए गए अध्ययन में पाया गया कि 1950–52 और 1982–84 के बीच गाँव के कुल क्षेत्रफल में सार्वजनिक संपत्ति संसाधन के अंतर्गत आने वाली जमीन का प्रतिशत कुछ राज्यों में 31 प्रतिशत तक घट गया है और अन्य राज्यों में अधिकतम 55 प्रतिशत तक घटा है। एक अन्य अध्ययन (Pasha 1992)के अनुसार 20 साल की अवधि में सार्वजनिक संपत्ति संसाधन के अंतर्गत कुल क्षेत्रफल 33 प्रतिशत कम हुआ है। शुष्कक्षेत्रों में यह गिरावट क्षेत्रफल और गुणवत्ता दोनों ही मामलों में देखने को मिली है(Jodha 1985)। इन संसाधनों से संबंधित बुनियादी संस्थागत ढांचे में, जिसमें वैधानिक दर्जा भी शामिल है, परिवर्तन को इस कमी का एक कारण माना गया है (Jodha 1997, Pasha 1992, Iyenggar and Shukla 1999, CWS 2001)।जमीन उपयोग पर उपलब्ध द्वितीयक आँकड़ें (secondary data)का प्रयोग करते हुए एक अध्ययन (Chopra et al 1989)ने यह स्थापित किया कि 1970–71 और 1986–87 की अवधि के दौरान सार्वजनिक सम्पत्ति संसाधनों (जंगलों को मिलाकर) का आकार एक राज्य (महाराष्ट्र) में कुल सार्वजनिक सम्पत्ति संसाधन के क्षेत्रफल का 4 प्रतिशत कम हुआ है और एक अन्य राज्य (हरियाणा) में 30 प्रतिशत तक घट गया है। इसी तरह, आंध्र प्रदेश में हाल ही में हुए एक अध्ययन (CWS 2001) ने 1970 के दशक से अध्ययन के समय तक गाँव के सार्वजनिक जमीन के आकार और गुणवत्ता दोनों ही मामलों में हो रही तेजी से कमी को रेखांकित करता है। अध्ययन के अनुसार यह गिरावट सत्तर के दशक के शुरुआत में गाँव के सार्वजनिक संसाधनों के मूल आकार का 20 प्रतिशत से 65 प्रतिशत तक की रही है।[129]

---

127 शंकर गोपालकृष्णन, अलोकतांत्रिक और मनमानीपूर्ण : भारत के वन और सार्वजनिक भूमि का नियंत्रण, विनियमन और सम्पत्तिहरण, सोसाइटी फ़ॉर प्रमोशन ओफ़ वेस्ट्लैंड डिवेलप्मेंट एंड राइट्स एंड रीसॉर्सेज़ इनिशिएटिव (Shankar Gopalakrishnan, Undemocratic and Arbitrary: Control, Regulation and Expropriation of India's Forest and Common Lands, Society for Promotion of Wasteland Development & Rights and Resources Initiative), 2012.

128 पूर्व संदर्भित.

129 कंचन चोपड़ा एवं पूर्णिमा दासगुप्ता, "सामूहिक लोक–संसाधन एवं विकास प्रक्रिया: भारत से साक्ष्य" (Kanchan Chopra and Purnima Dasgupta, "Common Pool Resources and Development Process: Evidence from India"), http://dlc.dlib.indiana.edu/dlc/bitstream/handle/10535/1089/choprak270302.pdf? seque

सार्वजनिक संपत्ति संसाधनों पर निजी कब्जे का वास्तविक पैमाना, बहरहाल, इस मुद्दे पर छिड़े जन–आंदोलनों से ही स्पष्ट हो जाता है। उदाहरन के लिए, पंजाब में पंचायत/*नजूल* की जमीन, जो कि दलितों के लिए आरक्षित है, को हथियाने के लिए जमींदार और धनी किसानों ने दलित समुदाय से तमाम 'दिखावटी उम्मीदवार' (dummy candidates)खड़े किए हैं। इस बात पर लोगों का ध्यान तब गया जब खेतिहर मजदूरों के जन–संगठनों और राज्य के अन्य प्रगतिशील धड़ों ने इसके खिलाफ जनसंघर्ष छेड़ा। वास्तव में, सामान्य तौर पर हिन्दुस्तान में भूमि संबंधों की सच्चाई वर्ग–संघर्ष के दौरान ही जाहिर होगी।

'उदारीकरण' और 'वैश्वीकरण' के दौर में कॉर्पोरेट क्षेत्र में हुए तेजी से विकास में बड़े पैमाने पर सार्वजनिक संपत्ति संसाधनों खासकर जंगल के जमीनों पर निजी कब्ज़ा शामिल है। इस प्रकार, सामुदायिक वनाधिकार और अन्य सार्वजनिक संपत्ति अधिकार को मान्यता न देने की सरकारी नीति की वजह सरकार की सुस्ती या अक्षमता नहीं बल्कि कॉर्पोरेट घरानों द्वारा संसाधनों की लूट में सरकार की बतौर एक महत्वपूर्ण सहायक भूमिका है।

जोतदारी व्यवस्था का ख़त्म होने से इनकार करना

1950 और 1960 के दशक में विभिन्न राज्यों में जोतदारी कानूनों को पास किया गया था। शासित और असंगठित जोतदार, प्रभुत्वशाली जमींदार और सरकारी तंत्र का जमींदारों के साथ साठ–गाँठ वाले हालात में इन कानूनों को लागू किया गया; जिसके बाद जमींदारों द्वारा व्यक्तिगत रूप से खेती करने की फिर से शुरुआत के नाम पर– जिसके बारे में जानबूझ कर इन कानूनों में कोई प्रावधान नहीं रखे गए– कुल कृषि योग्य जमीन के 33 प्रतिशत हिस्से से जोतदार परिवारों को बेदखल कर दिया गया।[130] पहले से ही ज्ञात इन परिणामों के बाद, आधिकारिक रुख धीरे–धीरे बदलने लगा। 1976 में कृषि पर बने राष्ट्रीय आयोग ने ऐलान किया, "जोतदारी सुधार आखिरकार जमींदार–जोतदार सम्बन्ध को तोड़ने के लिए निर्देशित किया जाना चाहिए। कृषि को किसानी करने वालों का पारिवारिक व्यवसाय के रूप में देखा जाना चाहिए न कि एक सहायक बिना–कमाए पैसे के स्त्रोत के रूप में।" लेकिन 2006 आते–आते भूमि संबंधों पर बने योजना आयोग का कार्यकारी समूह ने भाग्यवादी अंदाज में कहा, "जोतदारों को मालिकाना हक़ प्रदान करना अभी भी एक सर्वोत्तम लक्ष्य है जो कि निकट भविष्य में पूरा होता नहीं दिखता है।"

हाल में नीति आयोग की एक विशेषज्ञ कमिटी ने इस बात की घोषणा की व स्पष्ट तौर पर कहा कि आजादी के बाद भू–पट्टा कानूनों को बनाया गया था जो आज अपनी प्रासंगिकता खो चुके हैं। आज लीज पर खेती करना एक आर्थिक आवश्यकता है न कि सामंतवाद का प्रतीक जैसे कि पहले समझा जाता था। किसानों का शोषण

---

nce= 1 सामूहिक जमीनों में कमी का एक कारण सरकारी जमीनों का भूमिहीनों में वितरण हो सकता है, लेकिन रिपोर्टें बताती हैं कि वितरित की गई ऐसी जमीनों की वास्तविक मात्रा बहुत कम है।

130 पी. एस. अप्पू, भारत में भूमि–सुधार (P.S. Appu, Land Reforms in India), 1966.

करने वाली परिस्थितियों के मद्देनज़र यह कानून लागू किए गए थे। बहरहाल, वर्तमान स्थिति अलग है...जहाँ एक तरफ अनुपस्थित भू–स्वामियों (absentee landlordism)के आर्थिक और राजनीतिक शक्ति घटी है, वही दूसरी तरफ गाँव में रहने वाले गरीब लोग पंचायती राज व्यवस्था और अन्य लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं के माध्यम से राजनीतिक रूप से ताकतवर हुए हैं। कमिटी की नज़र में, पारस्परिक फायदे के लिए भू–स्वामियों और जोतदारों के बीच जमीन को लीज पर लेने–देने के लिए होने वाले स्वैच्छिक समझौतों की वजह से जोतदारी व्यवस्था चल रही है।"

विशेषज्ञ कमिटी ने जमीन को लीज पर देने को वैध बनाने के लिए एक आदर्श कानून का मसौदा तैयार किया है। यह सच है कि जोतदारों को कहीं अधिकार न मिल जाए इस डर से कई अनुपस्थित भू–स्वामी अपनी जमीनें खेती करने के लिए इच्छुक लोगों को लीज पर देने से या औपचारिक लिखित समझौता करने से मनाकरते हैं। इसीलिए, जमीन लीज पर देने के लिए कानूनी ढांचा को तैयार करना प्रत्यक्ष रूप से तार्किक और यहाँ तक कि गरीबों का पक्षधर प्रतीत होता है लेकिन यह भू–स्वामियों को जोतदारों द्वारा जोत पर अधिकार की सुरक्षा के दावे से बचाता है। और, सुनिश्चित करता है कि मालिक और जोतदार के बीच लिखित समझौता अधिकारियों के पास दर्ज हो।

बहरहाल, आमूल भूमि सुधार और ग्रामीण समाज के जनतंत्रीकरण होने के बाद ऐसे कानूनी ढांचे का अर्थ एक तरह का होता है और सुधार के बगैर और सामाजिक–आर्थिक शक्तियों की व्यापक असमानता की स्थति में उसी कानून का अर्थ बिल्कुल अलग होता है। बड़ी संख्या में जोतदारों के छोटे और सीमान्त किसान बने रहने की सच्चाई को नज़रअंदाज करके नीति आयोग द्वारा तैयार किया गया आदर्श कानून का मसौदा का लगभग हर प्रावधान भू–स्वामियों का बचाव करता है।[131] ऐसी स्थति में भू–स्वामी, जो कि प्रायः प्रभावशाली होता है, के लिए लीज सम्बन्धी शर्तों को अपने हक़ में तय करना आसान होगा।

इसमें कोई शक नहीं है कि पिछले 50 सालों के दौरान जोतदारी व्यवस्था घटी है। लेकिन, यह व्यवस्था अभी भी हठपूर्वक जिन्दा है और कुछ इलाकों में यह काफी महत्वपूर्ण है। भूमि संबंधों पर बने योजना आयोग का कार्यकारी समूह कहता है:

> NSS का 7 से 8 प्रतिशत जोतदारी व्यवस्था का आँकड़ा गंभीर रूप से एक कमतर आंकलन के रूप में स्वीकार किया जाता है। अध्ययनकर्ताओं द्वारा विभिन्न राज्यों में छोटे स्तर पर किए गए अध्ययन सूचित करते हैं कि छिपी हुई

131 लीज अनुबंध लिखित और पंजीकृत हो भी सकता है और नहीं भी; लीज की अवधि कुछ भी हो, यह कब्ज़ा या सुरक्षित जोतदारी या बेदखली और लीज संपत्ति के खिलाफ अधिकार नहीं बनाएगा; लीज की अवधि को निर्धारित करने और लीज की राशि एक निश्चित नकद या उपज के हिस्से के रूप में निर्धारित करने के लिए सरकार को मनाही है। लीज अवधि के ख़त्म होने पर जमीन मालिक स्वतः से जमीन का उपयोग करने के लिए अधिकृत होगा, आदि। विवादों का निपटारा तहसीलदार या उसके समकक्ष अधिकारी द्वारा किया जाएगा और सिविल कोर्ट का सहारा लेना मना है।

> जोतदारी व्यवस्था के मामले 15 प्रतिशत से 35 प्रतिशत तक हैं। यह सभी छिपकर किए गए मौखिक अनुबंध (oral contracts) हैं जिसमें देनदारी का भारी भरकम बोझ जोतदारों के कंधे पर होता है।

आन्ध्र प्रदेश सरकार द्वारा 2006 में बनाए गए कोनेरू रंगा राव कमिटी ने पाया कि राज्य के कुछ इलाकों में जोतदारी के मामले 50 प्रतिशत तक है। इसी तरह, 2010–11 में भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा किए गए क्षेत्र अध्ययन (field study)में देखा गया कि आन्ध्र प्रदेश के तटवर्ती इलाके में जोतदारी व्यवस्था का प्रचलन बहुत बड़े पैमाने पर है जिसमें 60 से 80 प्रतिशत किसान शामिल हैं, जिनको उत्पादन लागत का 35–40 प्रतिशत लगान के रूप में देना पड़ता है।[132] आन्ध्र प्रदेश के कृषि आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार,

> जब जोतदारी के विस्तार क्षेत्र पर कोई भी आधिकारिक दस्तावेज और आँकड़ें नहीं हैं, ऐसे में विश्वसनीय आंकलन सुझाते हैं कि जोतदारी व्यवस्था करीब एक तिहाई कृषि भूमि और उस पर काम करने वाले किसानों की बड़ी तादाद को शामिल करती है जो की काफी ज्यादा है...क्षेत्र अध्ययन में यह पाया गया कि पूरी तरह से भूमिहीन किसानों के अलावा कई छोटे किसान जिनके पास जमीन के छोटे टुकड़े हैं वे भी अतिरिक्त जमीन लीज पर लेते हैं। ऐसा कोई भी जिला नहीं था जहाँ पर जोतदारी व्यवस्था न हो, कुछ इलाकों में तो यह काफी महत्वपूर्ण है। जोतदारी के मामले उन इलाकों में ज़्यादा हैं जहाँ पर सिंचित जमीन है और जहाँ जल आपूर्ति भरोसेमंद है। बड़े पैमाने पर जोतदारी व्यवस्था विशेषकर तटवर्ती आन्ध्र प्रदेश में है...पिछले कुछ दशकों में जोतदारी का बढ़ता विस्तार का नाता बँटाईदारी से निश्चित किराया वाले जोतदारी की तरफ बढ़ने की प्रवृति से है। क्षेत्र भ्रमण से पता लगा कि नगद किराया दरें आमतौर पर काफी अधिक हैं।[133]

NSS के आँकड़ें के अनुसार, 1991 में बिहार में उपयोग होने वाली कुल जमीन का 3 प्रतिशत ही लीज के अंतर्गत है लेकिन बड़े पैमाने पर किए गए क्षेत्र सर्वेक्षणों का आंकलन है कि राज्य में उपयोग होने वाली कुल

---

132 आर वी रमन मूर्ती, रेखा मिश्रा, "धान का मूल्य निर्धारण: आँध्र प्रदेश का अध्ययन", स्टडी संख्या 38, आर्थिक एवं नीति अनुसंधान विभाग, आर. बी. आइ.(R.V. Ramana Murthy, Rekha Misra, "Pricing of Paddy: A Case Study of Andhra Pradesh", Study no. 38, Department of Economic and Policy Research, RBI)। अध्ययन बताता है, "किरायों के ज्यादा होने का कारण ऐसे भू–स्वामियों की संख्या में इजाफा है जिन्होंने कृषि करना छोड़ दिया है लेकिन सट्टेबाजी के उद्देश्य से जमीन को अभी भी अपने कब्जे में रखे हैं। इलाके में भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और सीमान्त किसानों की एक बड़ी तादाद जो लीज पर जमीन लेने के लिए आपस में ही प्रतिस्पर्धा करते हैं जिसकी वजह से इलाके में जमीन के किरायों में तीव्र बढ़ोतरी हुई है...कोई वैकल्पिक रोजगार उपलब्ध न होने से सीमान्त और (कुछ) छोटे किसान अभी भी कृषि से जुड़े हैं...किराएदार–बिचौलिया वर्ग नियमित रूप से कृषि जुड़े हुए मजदूर लोगों से अधिशेष की उगाही करने में समर्थ हैं। आंध्र प्रदेश के तटवर्ती इलाकों से लेकर पूर्वी गोदावरी और नेल्लौर जिला तक व्यापक रूप में हो रहा यह वर्ग निर्माण कृषकीय संबंधों के राजनितिक–आर्थिकी (political economy) को परिलक्षित करता है।

133 किसान कल्याण कमिशन, आँध्र प्रदेश सरकार, 2004 की रिपोर्ट (Report of the Commission on Farmers' Welfare, Government of Andhra Pradesh, 2004).

जमीन का एक–तिहाई लीज के अंतर्गत है।[134] बिहार भूमि सुधार आयोग (2006–08) के अध्यक्ष डी. बंदोपाध्याय के अनुसार:

> भले ही बँटाईदारी के बारे में कोई विस्तृत आँकड़ा नहीं है, फिर भी एक कमतर आंकलन के आधार पर बिहार में कुल कृषि योग्य जमीन का 35 प्रतिशत बँटाईदारी व्यवस्था के अंतर्गत है...अन्य एक तिहाई कृषि योग्य जमीन मध्यम और बड़े श्रेणी में आने वाले भूस्वामियों के मालिकाना हक़ में हैं। यह किराया उगाही का सामंतवादी लक्षण है जो उनको बिना किसी दिक्कत के आय औए समाज में हैसियत दोनों ही देता है। यह बाकी बचा एक तिहाई जमीन जिस पर खेतिहर किसान खेती करते हैं और जहाँ पर सम्पन्नता के कुछ संकेत दिखाई देते हैं।[135]

आयोग का रिपोर्ट पुष्ट करता है, "यह जाहिर है कि भूस्वामित्व के अजीबोगरीब स्वरुप और मनमाने जोतदारी की लुटेरी व्यवस्था के कारण बिहार कृषि में ढांचागत बाधाएं हैं जो कि तीव्र कृषि विकास में अड़चन पैदा कर रहा है (बिहार भूमि सुधार आयोग की रिपोर्ट, पेज 4)। बंदोपाध्याय आयोग ने बाकी चीजों के साथ कुछ बेहद सिफारिशें भी की– सबसे गरीब खेथर मजदूरों को हदबंदी से प्राप्त अधिशेष जमीन से 0.66 से 1 एकड़ तक जमीन आवंटित की जाए। और, यह सुनिश्चित करने के लिए कि सभी जोतदारों/बँटाईदारों को उपज का 60 प्रतिशत (यदि उत्पादन की लागत भूस्वामी द्वारा लगायी गई है) या 70–75 प्रतिशत (अगर उत्पादन की लागत *बँटाईदार* ने लगायी है) मिले, राज्य सरकार बँटाईदार कानून लागू करे। ग्रामीण कुलीन वर्ग ने आयोग की सिफारिशों को प्रभावशाली ढंग से अस्वीकार कर दिया। इस तरह से, नीतीश कुमार की सरकार ने बजाय इस बात सहारा लेने के कि सिफारिशें अभी 'विचाराधीन' हैं, अक्टूबर 2009 में यह घोषणा कर दी कि वह अपने ही आयोग कि सिफारिशें लागू नहीं करेगी।

इस घटना के बारे में और पड़ताल करने की जरुरत है कि क्या 'उत्क्रम जोतदारी' (reverse tenancy)– जिसमें बड़े भूस्वामी छोटे जमीन मालिकों से लीज पर जमीन लेते हैं– जमीन हथियाए हुए गतिशील और ज्यादा उत्पादनकारी कृषि वर्ग के विकास को दर्शाता है। यह सूदखोरी के संचालन और जमीन मालिकों की शक्ति भी प्रकट कर सकता है। कहने का मतलब है कि ऋणग्रस्तता और उत्पादकता से आवश्यक फायदा न मिलने की स्थिति में छोटे किसान शायद मजबूरन कम दरों पर जमीन लीज पर देते हों। इस प्रक्रिया का उदाहरण पानी के बाज़ार में देखा जा सकता है (नीचे देखें)।

---

134 रवि एस. श्रीवास्तव, "भारत में भूमि–सुधार, रोज़गार और ग़रीबी", ज़मीन, ग़रीबी, सामाजिक न्याय एवं विकास पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (Ravi S. Srivastava, "Land Reforms, Employment and Poverty in India", International Conference on Land, Poverty, Social Justice and Development), 2006.

135 डी. बंदोपाध्याय, "बिहार में खोया हुहा मौक़ा",ई. पी. डब्लू. (D. Bandyopadhyay, "Lost Opportunity in Bihar", EPW), 21/11/2009.

सूदखोरों का कसता शिकंजा

कुछ समय तक यह दलील पेश की गई कि ग्रामीण बैंकों के विस्तार की वजह से हिन्दुस्तान में सूदखोरी में कमी आयी है। और वास्तव में, ग्रामीण कर्जदारी पर *सरकारी* आँकड़ों ने दिखाया कि बैंक के राष्ट्रीयकरण के बाद कुल ग्रामीण कर्ज में गैर–संस्थानिक स्त्रोतों विशेषकर साहूकार और जमींदार को चुकाए जाने वाले कर्ज की प्रतिशतता में नियमित गिरावट आयी है। हालाँकि, यह संभव है कि उत्तरदाताओं ने सर्वेक्षकों को इन स्त्रोतों को चुकाए जाने वाले कुछ कर्ज के बारे में न बताया हो जिसकी वजह से कर्ज के आकार का आंकलन कम हुआ है।[136]

1991 में उदारीकरण की शुरुआत के बाद, किसानों के द्वारा लिए गए क़र्ज़ में साहूकारों के हिस्से में एक तेज उछाल आया जो कि आधिकारिक आँकड़ों और किसान आत्महत्या में हुई तीव्र वृद्धि दोनों में ही प्रकट होता है। बहरहाल, अब भी इस बात पर संदेह करने की वजह है कि आधिकारिक आँकड़ों में साहूकार को चुकाए जाने वाले कुल ऋण को कम करके आँका जाता है। कई अध्ययन सूचित करते हैं कि गैर–संस्थानिक क्षेत्र (मुख्य रूप से साहूकार और व्यापारी) से किसानों द्वारा लिए गए कर्ज संस्थानिक क्षेत्रों (बैंक, कॉपरेटिव, सरकार) से लिए गए कर्ज का *कम से कम दोगुना* होता है।[137] उदाहरण के लिए, विश्व बैंक–NCAER के एक सर्वेक्षण ने पाया कि उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश के 21 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों पर औपचारिक लोन का बकाया था, लेकिन

---

136 देखें एस. पी. गोथोस्कर, "ग्रामीण ऋण के कुछ अनुमानों पर", भारतीय रिज़र्व बैंक की सामयिक रिपोर्ट (S.P. Gothoskar, "On Some Estimates of Rural Indebtedness," Reserve Bank of India Occasional Papers), दिसम्बर 1988, और के. सीता प्रभु,ए. नाडकारनी एवं सी. वी, अचूतन, "ग्रामीण ऋण: लापता परिवारों का रहस्य", एकनॉमिक एंड पालिटिकल वीकली (K. Seeta Prabhu, A. Nadkarni, and C.V. Achuthan, "Rural Credit: Mystery of Missing Households," Economic and Political Weekly), 10/12/1988.

137 एच. एस. शेरगिल रिपोर्ट, पंजाब में ग्रामीण उधारी और क़र्ज़दारी, इंस्टिट्यूट ओफ़ डिवेलप्मेंट एंड कम्यूनिकेशन (H. S. Shergill report, Rural Credit and Indebtedness in Punjab, Institute for Development and Communication), 1998; अनीता गिल, लखविंदर सिंह, "किसान–आत्महत्याएँ व सार्वजनिक नीति की प्रतिक्रिया", एकनॉमिक एंड पालिटिकल वीकली (Anita Gill, Lakhwinder Singh, "Farmers' Suicides and Response of Public Policy", Economic and Political Weekly), 30/6/06; एन. श्याम सुंदर, "ग्रामीण ऋण–बाज़ार का स्वभाव: आंध्रा के आठ गाँवों में तहक़ीक़ात" (N. Shyam Sundar, "Nature of Rural Credit Markets: An Investigation of Eight Villages in A.P."), और आर. एस. राव व एम. भारती, "आंध्र प्रदेश में भूमि और गरीबी पर व्यापक अध्ययन: एक प्रारंभिक रिपोर्ट" (R.S. Rao and M. Bharathi, "Comprehensive Study on Land and Poverty in Andhra Pradesh: A Preliminary Report"), 2003, किसान कल्याण कमिशन, आँध्र प्रदेश सरकार, 2004 की रिपोर्ट (Report of the Commission on Farmers' Welfare, Government of Andhra Pradesh, 2004) में उद्धृत; आंध्र प्रदेश में कृषि–विशेषज्ञों द्वारा कृषक–आयोग की रिपोर्ट (Report of the Farmers' Commission of Experts on Agriculture in Andhra Pradesh), 2002; प्रिया बसु, भारतीय गरीबों के लिए वित्त की पहुंच सुधारना, वर्ल्ड बैंक, (Priya Basu, Improving Access to Finance for India's Poor, World Bank), 2006.

40 प्रतिशत परिवारों पर अनौपचारिक लोन का बकाया था। संक्षेप में, आधिकारिक आँकड़ों में लोगों पर साहूकार की पकड़ की बात वास्तव में नहीं आती है।[138]

इस बात का संकेत कृषि के लिए जरूरी लघु–कालिक लोन और बैंक एवं कॉपरेटिव द्वारा वास्तव में दिए गए उधार के बीच पाए जाने वाले बड़े अंतर से भी मिलता है। 2002–03 में संस्थानिक क्षेत्र द्वारा दिया गया उधार कृषि उत्पादन के लिए जरूरी वस्तुओं की कीमत का सिर्फ 15 प्रतिशत थी।[139] एक अधिकारिक कार्यदल ने पाया कि सक्रिय किसान क्रेडिट कार्ड की कुल संख्या संचालित जोतों की केवल 50.6 प्रतिशत थी, और साक्षात्कार देने वाले किसानों में 48 प्रतिशत ने महसूस किया कि लोन की स्वीकृत सीमाएं बेहद कम थी।[140]

साहूकारों पर किसानों की निर्भरता के बारे में तो कुछ आँकड़ें (बहरहाल वे अधूरे हैं) और विवरण उपलब्ध हैं लेकिन इस सम्बन्ध के *दूसरे* पक्ष मतलब कि साहूकार और उनकी गतिविधियों के बारे में कोई अध्ययन या विस्तृत जानकारी मुहैया करने वाले दस्तावेज को खोज पाना बड़ा मुश्किल है। कृषि लोन पर बने कार्य दल जिसने 17 राज्यों के 45 गावों का मुआयना किया, जिसके बारे में हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, ने इस बात को नोट किया है कि साहूकारों से 5 से 10 प्रतिशत प्रतिमाह जैसी ऊंची दरों पर उधार लिया गया लेकिन "साहूकारों के बारे में विस्तृत जानकारी मांगने पर किसान मौन हो जाते और सिर्फ आमतौर पर साहूकारों के बारे में कही जाने वाली बात को रखते।"[141] (मीडिया भी खुद को आत्महत्या करने वाले किसानों के परिवार का ब्यौरा देने तक सीमित रखता है और उन परिवारों के बारे में कुछ नहीं कहता है जो उन किसानों को आत्महत्या करने के लिए मजबूर करते हैं।) वास्तव में, पीड़ितों की यह चुप्पी साहूकारों के असल प्रभाव के बारे में काफी कुछ कहती है। ज्यादातर मामलों में साहूकार बिना किसी कानूनी दस्तावेज के भी अपने उधार की वसूली कर लेते हैं।

---

138 पल्लवी चव्हाण, "भारत में ग्रामीण परिवारों की क़र्ज़दारी: अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण पर एक नोट", आर ए एस (Pallavi Chavan, "Debt of Rural Households in India: A Note on the All–India Debt and Investment Survey", RAS), 2(1), 2012, ग्रामीण परिवारों पर कर्ज का राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) के आँकड़ो की तुलना फाउंडेशन फॉर अग्रेरियन स्टडीज (FAS) के द्वारा 2007–08 में कराए गए गाँव सर्वेक्षणों से प्राप्त अनुमानों से करती हैं। इस तुलना से पता लगता है कि जहाँ NSS के आँकड़ो के मुताबिक ऋणग्रस्तता की घटनाएं ज्यादातर राज्यों में 20 से 30 प्रतिशत है, वहीं FAS के सर्वेक्षण इन घटनाओं को 50 से 75 प्रतिशत के बेच दर्शाता है। बहरहाल, यह संस्थानिक और गैर–संस्थानिक कर्जों को अलग–अलग करके नहीं बताता है। चावन का अध्ययन यह भी सूचित करता है कि यहाँ तक संस्थानिक कर्जों का NSS द्वारा किया गया आंकलन कमतर है। इसी तरह, हाल ही में हुए एक सर्वेक्षण ने दिसम्बर 2013 में पंजाब में कुल कृषि कर्ज को 69,335 करोड़ आँका, जबकि 2013 का NSS का आँकड़ा राज्य में कुल कृषि को काफी कम– सिर्फ 16,845 करोड़ रुपए होने की बात करता है। यह सभी तथ्य इस बात की ओर इशारा करते हैं कि NSS के आँकड़ो में कृषि कर्ज काफी कम करके आँका गया है।

139 राकेश मोहन, भारतीय रिज़र्व बैंक बुलेटिन ("आर्थिक विकास, वित्तीय गहराई और वित्तीय समावेश", Rakesh Mohan, "Economic Growth, Financial Deepening and Financial Inclusion", RBI Bulletin), नवम्बर 2006.

140 किसानों के ऋण संबंधी मामलों के संबंध में कार्यबल, कृषि मंत्रालय (Task Force on Credit Related Issues of Farmers, Ministry of Agriculture), 2010, पृष्ठ 51–53.

141 पूर्व संदर्भित।

साहूकारों का डर इतना ज्यादा है कि दबाव और समाज में बेइज़्ज़ती के डर से किसान आत्महत्या तक कर सकते हैं, और यहाँ तक कि किसान का परिवार उस व्यक्ति का नाम लेने से भी कतराता है जिसने उस किसान को आत्महत्या के लिए धकेला है। और, पुलिस उसके खिलाफ आत्महत्या के लिए उकसाने का मुकदमा दर्ज करने से बचती है।

फिर भी, अनाधिकारिक सर्वेक्षणों की तरह NSS का आँकड़ा भी जोत के आकार और साहूकारों से उधार पर निर्भरता के बीच उल्टे सम्बन्ध को व्यक्त करता है। छोटे और सीमान्त किसान साहूकारों और व्यापारियों पर कहीं ज्यादा निर्भर हैं, और इनकी तुलना में कई बड़े किसानों को लोन पाने के लिए बैंक व अन्य संस्थानों तक कहीं ज्यादा पहुँच है (चार्ट 8 देखें)। इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि आत्महत्या करने वाले किसानों में ज्यादातर सीमान्त और छोटे किसान हैं।

ग्रामीण मजदूर और जोतदार किसान दो ऐसे सबसे गरीब वर्ग जिनके पास जमानत के रूप में रखने के लिए जमीन नहीं होती है जिसके चलते उनको संस्थानिक लोन (मुख्य रूप से बैंक से) मिल पाना बहुत मुश्किल होता है। और इसीलिए, उन्हें काफी हद तक साहूकार और अन्य प्रबल वर्गों पर निर्भर होना पड़ता है।

ऊपर के दोनों तथ्य– साहूकार से लिए जाने वाले कर्ज की व्यापकता और छोटे एवं सीमान्त किसानों की साहूकारों पर भारी निर्भरता तब और ज्यादा गंभीर हो जाते हैं जब हम ऐसे कर्ज की ब्याज दर पर ध्यान देते हैं। NSS का आँकड़ा यह बताता है कि साहूकार, दुकानदार और व्यापरियों से 20 प्रतिशत से ऊपर की दर पर कर्ज लिया गया है और इसी कर्ज का एक बड़ा हिस्सा 30 प्रतिशत ब्याज दर से भी ऊपर पर है।[142] अन्य अध्ययन और सर्वेक्षण सुझाते हैं कि सच्चाई इससे भी ज्यादा कड़वी है। आंध्र प्रदेश पर किए गए दो अध्ययनों के रिपोर्ट के मुताबिक साहूकारों से लिए जाने वाले कर्ज पर सालाना ब्याज दर 24 से 36 प्रतिशत है।[143] विश्व बैंक–NCAER का सर्वेक्षण यही ब्याज दर सालाना 48 प्रतिशत बताता है। 2013 में हुए NSS का किसान सर्वेक्षण किसानों के कर्ज का आकार वार्षिक आय का 61 प्रतिशत बताता है, ऐसी स्थिति में ऐसे ऊंचे ब्याज दर भयावह हैं। इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि यह सभी किसानों के लिए *औसत* है, और, इसमें सभी किसान – जो कर्जदार हैं और जिन्होंने कर्ज नहीं लिया है – शामिल हैं। कर्जदार किसानों के मामले में आय में कर्ज का

142 अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, (All India Debt and Investment Survey, NSS) 70वाँ राउंड।

143 किसान कल्याण कमिशन, आँध्र प्रदेश सरकार, 2004 की रिपोर्ट (Report of the Commission on Farmers' Welfare, Government of Andhra Pradesh, 2004) में उद्धृत।

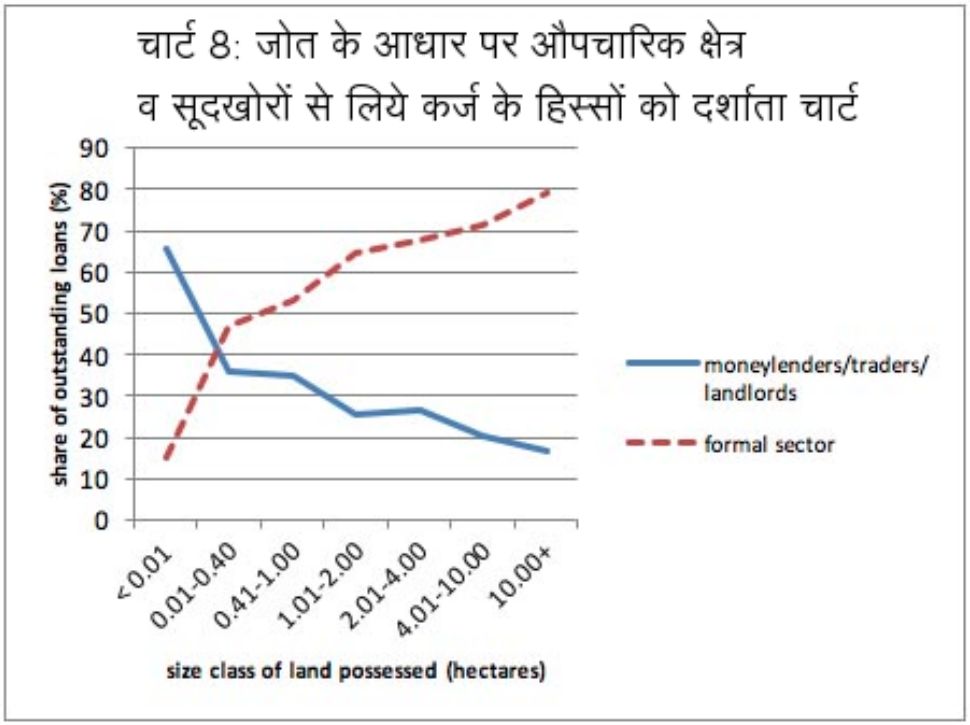

Source: Situation Assessment Survey of Agricultural Households, 2013, NSS 70th Round.

अनुपात ऊंचा होगा और साहूकारों पर ज्यादा निर्भर रहने वाले सीमान्त एवं छोटे किसानों के मामले में आय में ब्याज अदायगी का अनुपात और भी ऊंचा होगा।

NSS के 2012–13 के स्थिति मूल्यांकन सर्वेक्षण के अनुसार प्रति किसान परिवार कुल निवेश बहुत थोड़ा 6,156 रुपए सालाना या यूँ कहें आय का सिर्फ 8 प्रतिशत था। इतना ही नहीं, क्यूँकि प्रति किसान परिवार की सालाना बचत और भी कम 2436 रुपए है, ऐसी स्थिति में ऊपर दी गई निवेश की राशि किसानों के आय से निकल ही नहीं सकती है। किसानों को अगर निवेश करना है तो उन्हें कर्ज लेकर ही करना पड़ेगा। बहरहाल, अध्ययनों से पता चलता है कि बैंक द्वारा लम्बे समय के लिए दिए जाने वाले कृषि लोन में तेजी से गिरावट आयी है।[144]

1997–2003 और फिर पिछले दो–तीन सालों के दौरान जब सरकारी नीतियाँ सामान्य कृषकीय संकट को बढ़ाती हैं, किसान अपनी मूलभूत जरूरतों को पूरा करने के लिए नकद में कर्ज लेने के लिए मजबूर हो जाते हैं और जिसके चलते वे कर्ज में डूबते चले जाते हैं। बचत और निवेश आंकलन पर बने उच्च स्तरीय कमिटी ने कहा कि बचत और निवेश तो दूर की बात है, 2002–03 में किसान परिवार अपनी कमी से उपभोग खर्चों को पूरा

144 आर. रामकुमार एवं पल्लवी चव्हाण, "2000 के दशक में भारतीय कृषि को बैंक–ऋण", रिव्यू ऑफ ऐग्रेरियन स्टडीज (R. Ramakumar and Pallavi Chavan, "Bank Credit to Agriculture in India in the 2000s: Dissecting the Revival", Review of Agrarian Studies), 2014.

करने में सक्षम नहीं थे, और इसीलिए सकल घरेलू उत्पाद (gross domestic product– जीडीपी) का 2.8 दर पर उन्होंने *अपनी बचत से खर्च* किया। इन परिवारों को मिला नकद लोन उस वर्ष के जीडीपीका 3.3 प्रतिशत था, "जो कि यह सूचित करता है कि आय और उपभोग खर्चों के बीच वित्तीय अंतर की भरपाई उधार लेकर की जाती है।"[145]

ऊपर दिए गए तथ्य यह बताते हैं कि सूदखोरी मेहनतकश किसानों द्वारा किए जाने वाले उत्पादक निवेश के आड़े आती है। साथ ही यह तथ्य दर्शाते हैं की, सूदखोरी में इतना लाभ है जिसके चलते सुदख़ोरी में लगे लोग अपना धन कृषि या उद्योग सरीखी उत्पादक गतिविधियों में लगाने के बजाए क़र्ज़ देने में लगाते हैं।

कुछ बड़ी बाधाएं छोटे और सीमान्त किसानों को बैंक से लोन लेने से रोकती हैं। विश्व बैंक–NCARE का अध्ययन यह रिपोर्ट करता है कि ग्राहकों को लोन लेने के लिए अक्सर मोटी रिश्वत देनी पड़ती है जो कि लोन के रूप में मिलने वाली कुल राशि का 10 से 20 प्रतिशत होती है। ब्याज की निर्धारित सीमा के बावजूद, ऐसी स्थिति में कर्ज लेने वाले पर बोझ बहुत बढ़ जाता है। किसी व्यावसायिक बैंक से एक लोन स्वीकृत होने में औसतन 33 हफ्तें लग जाते हैं। बैंक जमानत की मांग करते हैं जो कि उधार लेने वाले ग्रामीण के पास नहीं होता है। अभी भी जमीन को एक महत्वपूर्ण जमानत के रूप में देखा जाता है। लेकिन, गरीब परिवारों के पास प्रायः जमीनों पर उनका स्पष्ट मालिकाना हक़ नहीं होता है।

जबकि साहूकारों से कर्ज लेने पर कर्ज लेने वाले को एक फायदा रहता है कि आमतौर पर ऐसे कर्ज को लेने के लिए जमानत की जरूरत नहीं पड़ती है, लेकिन एक अध्ययन ने पाया कि "लोन लेने वालों में से कुछ ने अनौपचारिक लोन के लिए जमानत अदा करने की बात कही। और, यह जमानत भारी मात्रा में 'स्व–श्रम' (self–labour) के रूप में थी जो कि ऐसे अनुबंधों का सबूत है जिसमें लोन और श्रम आपस में जुड़े हुए हैं। जमानत के रूप में स्व–श्रम की बात रिपोर्ट करने वाले लगभग सभी मामलें भूमिहीन और सीमान्त किसानों के हैं।" पंजाब में ग्रामीण कर्ज पर किए गए एक क्षेत्र अध्ययन ने पाया कि 2014–15 में 80 प्रतिशत खेतिहर मजदूर परिवार कर्जदार थे और कर्ज की रकम प्रति परिवार 68,330 रुपए थी। इसमें से 68 प्रतिशत कर्ज बड़े किसानों से, 12 प्रतिशत व्यापारियों, दुकानदारों और साहूकारों से और सिर्फ 8 प्रतिशत कर्ज बैंक या कॉपरेटिव से लिए गए थे। इन सभी उधारियों पर ब्याज दर ऊंची थी (आधे से ज्यादा 22 से 28 प्रतिशत सालाना की दर

145 बचत और निवेश के आंकलन पर उच्च स्तरीय समिति, 2009 (सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय) की रिपोर्ट, (Report of the High Level Committee on Estimation of Saving and Investment, Ministry of Statistics and Programme Implementation, 2009), पृष्ठ 264–65. भले ही कमजोर मानसून की वजह से 2002–03 में बचत का उपभोग पर खर्च विशेषरूप से जायदा रहा, लेकिन 2012–13 में भी कृषक परिवारों की एक बड़ी आबादी द्वारा यह खर्च जारी रहा (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) का 70वां राउंड)।

पर थी)। लगभग सभी कर्ज उपभोग के उद्देश्य से लिए गए थे[146] जो दो बातों की तरफ इशारा करता है कि मजदूरों की आय उपभोग की जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है व कर्जदारी बनी रहेगी। इन परिस्थितियों में इस बात की संभावना बहुत कम है कि बड़ा भू–स्वामी जिसने खेतिहर मजदूर को लोन दिया है वह खेती के काम के लिए मजदूर को मजदूरी बाज़ार दर पर देगा।

उदारवादी शासन ने बचने के सभी रास्तों को बंद कर दिया है। हाल ही में हुए एक अध्ययन ने इस बात को सामने रखा कि 1991 के बाद की अवधि में कर्ज लेने वाले दलितों को बैंक से मिलने वाले लोन में कमी आयी है। यह इस बात को भी दर्शाता है कि ग्रामीण दलितों द्वारा लिए जाने वाले कर्जों में औपचारिक लोन विशेषकर बैंक लोन के अनुपात में एक तेज गिरावट आयी है और इससे पैदा हुई रिक्तता की भरपाई अत्यधिक ब्याज दरों पर कर्ज देने वाले सूदखोरों द्वारा हुई। सर्वेक्षण के आँकड़ो के अनुसार, 1992 में दलित परिवारों को मिले कर्ज का सबसे बड़ा स्त्रोत व्यावसायिक बैंक थे जिनका स्थान 2002 में सूदखोरों ने ले लिया।[147]

जैसा कि गरीब और सीमान्त किसान सिर्फ अपने जमीन से गुजर–बसर करने में असमर्थ हैं, वहीं किसान और कामगार के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है। इसलिए गांवों में सूदखोरी की पकड़ का विस्तार शहरी कामगारों विशेषकर सबसे ज्यादा उत्पीडित वर्ग तक भी हो सकता है। पश्चिमी उड़ीसा से पलायन करके तेलंगाना के ईंट भट्ठों में अर्ध–गुलामी की स्थिति में काम करने वाले मजदूरों पर किया गया एक अध्ययन ईंट भट्ठा मजदूरों को कर्ज–गुलामी की स्थति में पहुँचाने में कृषकीय संबंधों (जायदाद में असमानता, वन और कृषि उपजों के लिए बाज़ार से कम की कीमत, कम स्थानीय मजदूरी, विभिन्न सरकारी एजेंसियों का शोषणकारी शक्तियों के साथ साठ–गाँठ, और प्रभुत्व एवं दबाव का जाल तंत्र) की भूमिका को सामने लाता है।[148]

---

146 ज्ञान सिंह, अनुपमा, गुरिन्दर कौर, सूखवीर कौर, "ग्रामीण पंजाब में किसानों और कृषि श्रमिकों के बीच क़र्ज़दारी", ई. पी. डब्लू. (Gian Singh, Anupama, Gurinder Kaur, Rupinder Kaur, Sukhvir Kaur, "Indebtedness among Farmers and Agricultural Labourers in Rural Punjab", EPW), 11/2/2017.

147 पल्लवी चव्हाण, "भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक ऋण में दलित क़र्ज़दारों की पहुंच", रिव्यू ऑफ ऐग्रेरियन स्टडीज, भाग 2, अंक 2, (Pallavi Chavan, "The Access of Dalit Borrowers in India's Rural Areas to Bank Credit", Review of Agrarian Studies, vol. 2, no. 2), 2012.

148 तथागत सेनगुप्ता एवं जी. विजय, "पश्चिमी उड़ीसा से तेलंगाना प्रवास का एक सर्वेक्षण", एस. आर. दिनकर चेयर (ग्रामीण श्रम), ऐन. आर. आइ. डी., हैदराबाद, 2015 को प्रस्तुत एक रिपोर्ट से (Tathagatha Sengupta and G. Vijay, "A Survey of Migration from Western Orissa to Telangana", Report submitted to S.R. Sankaran Chair (Rural Labour), NIRD, Hyderabad, 2015). https://www.researchgate.net/publication/277502833_A_Survey_of_Migration_from_Western_Odisha_to_Brick_Kilns_in_Telangana

दशक 2000 के दौरान बैंक से मिलने वाले कृषि लोन में तीव्र वृद्धि देखी गई और कृषि सकल घरेलू उत्पाद में कृषि लोन का अनुपात 1999–2000 में 10 प्रतिशत से बढ़कर 2012–13 में लगभग 38 प्रतिशत हो गया।[149] जैसा कि रामाकुमार और चावन ने अपने अध्ययन में बताया कि इनमें से अधिकतर वृद्धि प्रत्यक्ष कृषि लोन में कत्तई नहीं हुई बल्कि विभिन्न तरह के लोन का सुविधानुसार नाम बदलकर और उन पर सीमाएं निर्धारित करके *कॉर्पोरेट क्षेत्र* में गई। बहरहाल, यह संभव मालूम पड़ता है कि जोरशोर से किए गए इस विस्तार का कुछ हिस्सा धनी किसानों के पास गया है। आँकड़ो में बात करे तो 2 से 10 लाख की सीमा तक के लोन जो 2000 में 12.8 प्रतिशत थे 2011 में बढ़कर 28.3 प्रतिशत हो गए।[150]

बड़े भू–स्वामियों का तबका अभी भी प्रभुत्वशाली

लोन की तरह अन्य मामलों में भी बड़े भू–स्वामी चीजों को अपने पक्ष में करने में समर्थ रहे हैं जबकि छोटे और सीमान्त किसानों की सौदा करने की स्थिति (bargaining power) कमजोर रही है। परिणामस्वरूप, "प्रति इकाई उत्पादन लागत ज्यादा होने से छोटे आकर के जोत को होने वाले नुकसान की भरपाई ज्यादातर मामलों में उन छोटे जोतों में अधिक पैदावार होने पर भी पर्याप्त रूप से नहीं होती है। इसलिए, विभिन्न आकारों के जोत से प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण आय के बीच असमानता काफी अधिक पायी गई है और यह समय के साथ शायद बढ़ी भी है।"[151] इस असमानता को निविष्टियों, उत्पादन, लोन और श्रम के बाज़ार के सम्बन्ध में देखा जा सकता है।

1. *व्यापारी पूंजी से मजबूर छोटे जोत के मालिक:*

बड़े भूस्वामियों की पकड़ ज्यादा होने की वजह से छोटे किसानों की तुलना में अपनी उपज का बेहतर कीमत प्राप्त करने में समर्थ रहते हैं। "छोटे किसानों का पूरा उत्पादन एक बार में ही बाज़ार में आता है। अक्सर कर्ज के भारी बोझ से दबे छोटे किसानों के पास ज्यादा साधन–संपन्न व्यापारियों से अनुकूल सौदा करने की ताकत कम होती है। बढ़ी हुई कीमतों के दौर में भी कुल मिलाकर बिचौलियों को ही मुनाफा होता है।"[152] उदारीकरण और वैश्वीकरण के साथ सरकारी खरीददारी व्यवस्था के घट जाने से छोटे किसान और ज्यादा कमजोर हुए हैं।

---

149 आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2015–16, भाग II, पृष्ठ 110.

150 रामकुमार व चव्हाण, ऊपर दिए गए संदर्भ से (Ramakumar and Chavan, op. cit.)

151 असंगठित क्षेत्र में उद्यमों के लिए राष्ट्रीय आयोग, "मामूली और लघु किसानों के लिए एक विशेष कार्यक्रम", (National Commission for Enterprises in the Unorganised Sector (NCEUS), "A Special Programme for Marginal and Small Farmers"), 2008.

152 असंगठित क्षेत्र में उद्यमों के लिए राष्ट्रीय आयोग, ऊपर दिए गए संदर्भ से। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) के 59वें राउंड के अनुसार पूरे देश में बड़े खेतों की तुलना में छोटे खेत औसतन प्रति हेक्टेअर ज्यादा (मूल्य में) उत्पादन करते हैं, हालाँकि यह कुछ राज्यों पर लागू नहीं होता है।

सार्वजनिक कृषि प्रसार व्यवस्थाएँ नब्बे के दशक के अंत में दरअसल ठप्प हो गई थीं जिसके चलते फसल, निविष्टियों, बोरवेल आदि के बारे में दिशा–निर्देश के लिए छोटे किसान लुटेरे निजी विक्रेताओं की दया पर आश्रित हो गए हैं।

'सार्वजनिक वस्तुओं' और सरकारी सब्सिडी के मामले में भी छोटे किसान नुकसान की स्थिति में हैं। 2015–16 का *आर्थिक सर्वेक्षण* (Economic Survey)[153] यह दर्शाता है कि काला बाजारी में उर्वरक की कीमत निश्चित आधिकारिक कीमतों से औसतन 61 प्रतिशत ऊंची है। छोटे किसान बड़े किसानों की तुलना में उर्वरक के लिए औसतन 17 प्रतिशत ज्यादा अदा करते हैं। पंजाब, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु जैसे कुछ राज्यों में छोटे किसान 55 से 70 प्रतिशत के बीच ज्यादा कीमत अदा करते हैं।

2. *जल संसाधनों पर नियंत्रण जमीन संसाधनों पर नियंत्रण से संबंधित है:*

उसी प्रकार से, बड़े किसान सिंचाई परियोजनाओं से पानी के बड़े हिस्से को हड़प लेते हैं: "सीमान्त और छोटे किसान कहीं दूर किनारे घटिया किस्म की जमीन पर बसे हैं जहाँ की ज़मीनें नहर के आखिरी छोर पर स्थित हैं या वाटरशेड क्षेत्र के उपरी हिस्सों में हैं। वे मझोले और बड़े किसानों की तुलना में बाढ़ और रसाव की समस्या भी ज्यादा झेलते हैं। ऐसे में बड़े किसान सस्ते स्त्रोतों से फायदा कमाते हैं (मतलब कि बड़े किसान अधिकतम सिंचाई नहर से करते हैं जो कि सस्ती सिंचाई का विकल्प है वहीं छोटे किसानों को पानी किराए पर लेना पड़ता है)। 10 हेक्टेअर से ज्यादा जमीन वाले किसानों के मामले में 40 प्रतिशत जमीन की सिंचाई नहरों से होती थी और सीमान्त एवं छोटे किसानों के मामले में 25 प्रतिशत से भी कम है।"[154] सिंचाई क्षमता निर्माण (irrigation potential created– IPC)और सिंचाई क्षमता उपयोग (irrigation potential used– IPU) के बीच लगातार बढ़ते अंतर का एक कारण यह हो सकता है कि नहर के पानी को एक बड़े भू–भाग में पहुँचने से रोकने में प्रभावशाली भूस्वामियों का हित हो। ग्यारहवीं योजना में IPC में IPU का अनुपात घटकर 29 प्रतिशत हो गया है।[155]

हिन्दुस्तान में तकरीबन 60 प्रतिशत सिंचाई भू–जल से होती है। जबकि बड़ी संख्या में कुएं सीमान्त और छोटे किसानों के पास हैं, वहीं भारी संख्या में *गहरे* ट्यूबवेलपर स्वामित्व मझोले और बड़े किसानों का है।[156] कई अध्ययनों ने इस बात को दृढ़तापूर्वक कहा है कि "भूस्वामित्व में असमानता की वजह से ही सिंचाई के लिए

153 आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2015–16, भाग I, पृष्ठों 133–4.

154 असंगठित क्षेत्र में उद्यमों के लिए राष्ट्रीय आयोग, ऊपर दिए गए संदर्भ से।

155 आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) 2015–16, भाग II, पृष्ठ 104.

156 वी. पी. गांधी एवं वी. भमोरिया, "भारत में भूजल सिंचाई: विकास, चुनौतियां, और जोखिम", इंडिया इंफ्रास्ट्रक्चर रिपोर्ट (V.P. Gandhi and V. Bhamoriya, "Groundwater Irrigation in India: Growth, Challenges, and Risks", India Infrastructure Report) 2011.

भू–जल तक पहुँच में असमता होती है जो कि, बदले में, संपत्ति और आय के वितरण में विषमता और असमानता को बढ़ाती है।"[157] भूजल को भूस्वामी की सम्पत्ति की तरह देखा जाता है, इसलिए भूस्वामित्व में असमानता आगे भू–जल तक पहुँच में असमानता से सीधे तौर जुडी हुई है।

पंजाब में कृषि में भू–जल के उपयोग पर हुआ एक अध्ययन[158] निम्न बातों का खुलासा करता है:

- क्यूँकि बड़े भूस्वामी जरूरी निवेश को वहाँ करने में समर्थ होते हैं इसलिए जायदाद जितनी बड़ी होती है उस जमीन पर कुएं उतने ही ज्यादा गहरे होते हैं।

- बड़े भूस्वामियों द्वारा खोदे गए गहरे कुएं जमीन के निचले हिस्सों से पानी का दोहन बहुत तेजी से करते हैं जिसके चलते भू–जलस्तर में गिरावट आती है और छोटे एवं सीमान्त किसानों के कुएं सूख जाते हैं। बहरहाल, भू–जलस्तर के गिरने पर बड़े किसान पानी के लिए सिर्फ और गहरी खुदाई करते हैं।

- जहाँ पर भू–जल पर निर्भरता ज्यादा है (मतलब जहाँ नहर का पानी उपलब्ध नहीं है) वहाँ छोटे और सीमान्त किसानों को सिंचाई के लिए पानी मजबूरन खरीदना पड़ता है। हालाँकि, भू–जल खरीदने वालों की पैदावार बेचनेवालों से कम होती है क्योंकि भू–जल पर सीधा नियंत्रण होने से सुविधानुसार समय पर फसल की सिंचाई और विश्वसनीयता के फायदे रहते हैं।

- भू–जल स्तर में जितनी गिरावट होती है, भू–जल के बाज़ार में खरीददार के रूप में परिवारों का अनुपात भी उतना ही ज्यादा होता है। एक अध्ययन में पता लगता है कि "जल स्तर में गिरावट भू–जल पर स्वामित्व में विषमता को बढाता है जिसके परिणामस्वरूप जल निकालने के उपकरणों (water extraction equipment– WEM) पर मालिकों का एकाधिकार और खरीददारों खासतौर पर छोटे

157 अनिंदिता सरकार, "पंजाब में भूजल संसाधन को खत्म करने के सामाजिक–आर्थिक प्रभाव: विभिन्न सिंचाई प्रणालीयों का तुलनात्मक विश्लेषण", ई. पी. डब्लू. (Anindita Sarkar, "Socio–economic Implications of Depleting Groundwater Resource in Punjab: A Comparative Analysis of Different Irrigation Systems", EPW), 12/2/2011. यह उसी लेखक की पी.एच.डी. थीसिस पर आधारित है "सिंचाई प्रणाली में संरचनात्मक परिवर्तन और भूजल संसाधनों तक पहुंच: पंजाब का एक अध्ययन" ("Structural Changes in Irrigation Systems and Access to Groundwater Resources: A Case Study of Punjab", PhD thesis, 2009), http://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/18164 पर उपलब्ध. और देखें: बेला भाटिया, "ज़मीन में पानी और सूखे गले: गुजरात में भूजल की राजनीतिक अर्थव्यवस्था", ई. पी. डब्लू. (Bela Bhatia, "Lush Fields and Parched Throats: Political Economy of Groundwater in Gujarat", EPW), 1992; एन. नागराज एवं एम. जी. चंद्रकांत, "कुओं के बंद होने से एक ही पीढ़ी और कई पीढ़ीयों के बीच समानता पर प्रभाव", ई. पी. डब्लू. (N. Nagraj and M.G. Chandrakanth, "Intra and Inter Generational Equity Effects of Irrigation Well Failures", EPW), 1997.

158 अनिंदिता सरकार, ऊपर दिए गए संदर्भ से। (Anindita Sarkar, op. cit.)

जोत के मालिकों का शोषण बढ़ता है। ऐसी स्थिति में जहाँ WEM के मालिक सिर्फ मुट्ठीभर हैं और खरीददारों की संख्या काफी ज्यादा है पानी के व्यापार के शर्तें विक्रेता के द्वारा तय की जाती हैं।

- दिलचस्प यह है कि पानी के विक्रेता खरीफ मौसम के दौरान जब धान की फसल को पानी की ज्यादा जरूरत पड़ती है, पानी खरीदने वालों से कम दर पर जमीन लीज पर ले लेते हैं और बदले में रबी मौसम में उन परिवारों को पानी मुहैया कराते हैं जिन्होंने पहले इन विक्रेताओं को अपनी जमीन लीज पर दी थी। उल्टा जोतदारी पानी की कमी के साथ बढ़ती है क्योंकि सीमान्त किसानों को मजबूरन अपनी जमीनें बड़े किसानों को लीज पर देनी पड़ती है।

- इस प्रक्रिया में "पानी खरीदने वाले किसान लीज पर दे दी गई अपनी जमीन को पानी विक्रेताओं , जो कि प्रायः बड़े जमींदार होते हैं, के पास गिरवी रखते हैं। कर्ज का बोझ काफी बढ़ जाने और बड़े जमींदारों द्वारा लाभ को संचय करने की प्रक्रिया में छोटे और सीमान्त किसानों को मजबूर होकर अपनी जमीनें कम कीमतों में बेचनी पड़ती है।"[159]

ऊपर दिया गया उदाहरण यह दिखाता है कि अलग–अलग कृषकीय वर्गों के बुनियादी संसाधन, जो स्थानीय स्तर पर उनके सामाजिक–राजनीतिक हैसियत को निर्धारित करते हैं, के अनुसार ही उनका बाज़ार के साथ जुड़ाव का *स्वभाव* भी अलग–अलग होता है:

> बाज़ार का स्वभाव स्थानीय स्तर पर सत्ता के स्वरुप को प्रकट करता है और उससे महत्वपूर्ण रूप से निर्धारित भी होता है। साथ ही, खुद बाज़ार का संचालन ही ऐसा हो सकता है जो सत्ता के स्वरुप को मजबूत बनाता हो। इस स्थिति का मोटे तौर पर विवरण निम्नवत है: विभिन्न बाज़ारों में प्रतिभागियों की 'सौदा करने की स्थिति' (bargaining position)बुनियादी संसाधन की स्थिति से निर्धारित होती है। सौदा करने की तुलनात्मक शक्ति (जो कि परंपरा, प्रथा और सामाजिक रीतियों द्वारा प्रबल बनाए जाते हैं) संसाधनों तक पहुँच को निर्धारित करता है यानी कि उन शर्तों का निर्धारण जिससे लोगों को संसाधन प्राप्त होते हैं और विभिन्न बाजारों में व्यक्तिगत उत्पादनकर्ता को व्यावहारिक विकल्प उपलब्ध होते हैं। संक्षेप में कहें तो एक उत्पादक की गतिविधियों और उसके आय–संपत्ति की स्थिति इसी से तय होती है जो कि बाद में औरों की तुलना में सौदा करने की उसकी क्षमता को निर्धारित करती है।[160]

गैर–आर्थिक शक्तियों का उपयोग ग्रामीण जीवन की एक नयी नंगी सच्चाई है। बड़े भूस्वामियों के जातिगत सम्बन्ध (जो कि ज्यादातर प्रभ्त्वशाली जातियों के होते हैं), सरकारी अधिकारियों और संसदीय पार्टियों पर उनका प्रभाव, आपराधिक गिरोहों तक उनकी पहुँच, उनका सांस्कृतिक प्रभाव (उदाहरण के लिए धार्मिक व्यक्तियों, संस्थाओं और त्यौहारों से उनका नाता), यह सभी उनके द्वारा स्थानीय स्तर पर शक्ति प्रयोग में भूमिका निभाते

159 इसी तरह, आंध्र प्रदेश के तीन गाँवों पर किया गया अध्ययन से पता लगता है कि भू–जल सत्र में गिरावट की ज्यादा मार सीमान्त और छोटे किसानों को झेलनी पड़ती है, और भू–जल स्तर में यह गिरावट इन किसानों को कर्ज के जाल में फंसने के लिए भी शायद जिम्मेदार है।

160 के भारद्वाज, "खेतों के क्षेत्रफल व उत्पादकता पर एक नोट", ई पी डब्लू, रिव्यू ओफ़ ऐग्रीकल्चर (K. Bharadwaj, "Notes on Farm Size and Productivity", EPW, Review of Agriculture), मार्च 1974.

हैं। बदले में यही सच्चाई आर्थिक प्रक्रिया को एक विशेष शक्ल देती है। इसी कारण से, जमीन और अन्य ग्रामीण संपत्तियों से जुड़े सवाल का समाधान ही हिन्दुस्तान के सामाजिक–राजनीतिक जीवन का जनतंत्रीकरण का एक उपाय है।

ऊपर चर्चा किए गए कारणों से हम समझ सकते हैं कि बिना ग्रामीण सम्पत्ति के पुनर्वितरण और कृषकीय संबंधों को नए तरह से व्यवस्थित किए बगैर और शक्ति के जनतांत्रिक अंगों (जिसका निर्माण किसान इस ऐतिहासिक कार्य में करेंगे) की अनुपस्थिति में भू–जल संसाधनों में बेतहाशा कमी जैसे गंभीर पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान बहुत कठिन है।

नवउदारवादी शासन व्यवस्था में दलित और आदिवासी किसान

शासक वर्ग कैसे 'कृषि' से जुड़े सवालों को मेहनतकश किसानों के मुद्दों से अलग करता है इस बात का एक चौंकाने वाला उदाहरण यह है कि जब भी वे (शासक वर्ग) किसानों की बात करते हैं हर बार किसानों के दो महत्वपूर्ण तबकों– दलित और आदिवासी किसान का जिक्र करने में असफल रहते हैं।

वास्तव में, पिछले दो सालों में ग्रामीण मजदूरी वृद्धि में आई गिरावट पर आधिकारिक दस्तावेज ख़ुशी का इजहार करते हैं। उनके हिसाब से ग्रामीण मजदूरी, जो कि ज्यादातर दलितों और समाज के अन्य उत्पीड़ित वर्गों को मिलती है, में वृद्धि कृषि के लिए खतरा है। उनकी यह समझ खेत में मेहनत करने वालों को कृषि का विरोधी मानती है।[161] इसी तरह, हाल के बजट को 'किसान समर्थक' बजट होने का ढिंढोरा पीटने और जंगलों में रहने वालों को कृषि का हिस्सा न मानते हुए वन भूमि को अधिग्रहित करने के कार्यक्रमों को उग्रता से लागू करने के बीच सरकार कोई विरोधाभास नहीं देखती है।

इसमें कोई शक नहीं है कि शासक वर्ग अनुसूचित जातियों और जनजातियों की बात तमाम कल्याणकारी योजनाओं के 'लक्ष्य' के रूप में करता है, लेकिन कभी भी कृषि के सम्बन्ध में उनकी बात नहीं करता है। *किसान* के रूप में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की बात करने के लिए जमीन के सवाल को सामने लाना पड़ेगा जो कि एहतियातन रूप से शासक वर्ग की बातचीत में निषेध है। एक बार फिर से दलितों के उत्पीड़न और जमीन से उनकी बेदखली के बीच सम्बन्ध पर ध्यान आकर्षित करने के लिए हाल की महीनों में गुजरात में दलितों ने जन–आन्दोलन किया। दलित–आदिवासियों की कब्जे वाली जमीन से कृषि उपज की मात्रा भले ही बहुत ज्यादा न हो, लेकिन भविष्य में किसी भी प्रकार के कृषकीय बदलाव में उनकी भूमिका खासी महत्वपूर्ण है।

161 वास्तव में, 0.4 हेक्टेअर या 1 एकड़ तक की जमीन वाले किसान परिवारों की आय का 58 प्रतिशत मजदूरी से आत है और 0.4 से 1 हेक्टेअर जमीन वाले किसान परिवारों के आय का 38 प्रतिशत मजदूरी से प्राप्त होता है।

80 प्रतिशत दलित और 92 प्रतिशत आदिवासी ग्रामीण इलाकों में रहते हैं और वे अन्य समुदायों की तुलना में कृषि पर ज्यादा निर्भर हैं। NCEUS ने पाया कि एक तरफ 2004–05 में दलित कार्यबल का 64 प्रतिशत (सभी समुदायों के 58 प्रतिशत की तुलना में) कृषि में संलग्न था, वहीं दूसरी तरफ किसी भी अन्य समुदाय के सदस्यों की तुलना में कहीं ज्यादा दलितों का तबका भूमिहीन था। उसके अलावा, आधे से ज्यादा दलितों की जायदाद आधे हेक्टेअर से कम थी।[162] जहाँ ग्रामीण हिन्दुस्तान में 21 प्रतिशत परिवार दलितों के हैं, वहीं कृषि प्रयोग में आने वाली कुल जमीन का महज 9 प्रतिशत दलितों के हिस्से में आता है।[163] कृषि पर निर्भरता और जमीन से बेदखली का यह जोड़ खासतौर से दमनकारी है। भले ही जातिगत उत्पीड़न को सिर्फ जमीन के मुद्दे तक सीमित नहीं किया जा सकता है, लेकिन, वास्तव में जातिगत उत्पीड़न से दलितों की मुक्ति का प्रश्न आमूल भूमि सुधार से अलग नहीं किया जा सकता है।[164]

एक मायने में, आदिवासी समाज में जमीन से संबंधित मुद्दे दलित समाज से बहुत अलग हैं। आदिवासियों के पास दलितों से ज्यादा जमीन है, लेकिन वह जमीन बहुत ही खराब किस्म की है। परिणामस्वरूप, सभी सामाजिक वर्गों में सबसे ज्यादा अनियत मजदूर (casual labourers)और गरीबी का सबसे अधिक आधिकारिक अनुपात आदिवासियों में है और उसके बाद दलितों में है।[165] आदिवासियों के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में परिवर्तन का आधारभूत कारण उनका जंगल और उससे संबंधित संसाधनों पर नियंत्रण का ख़त्म होना है, और इसी के चलते आदिवासी आंदोलनों का जन्म हुआ है। औपनिवेशिक काल के पहले के समय में गैर–आदिवासी शासकों ने जंगल पर आदिवासियों के नियंत्रण का अतिक्रमण किया, और फिर औपनिवेशिक शासन ने भारतीय वन कानून, 1927 को लागू कर योजनाबद्ध ढंग से जंगलों को हड़प लिया और आदिवासियों को अतिक्रमणकारी करार दिया।

---

162 असंगठित क्षेत्र में उद्यमों के लिए राष्ट्रीय आयोग, "छोटे और सीमांत किसानों के लिए एक विशेष कार्यक्रम" (National Commission for Enterprises in the Unorganised Sector, "A Special Programme for Small and Marginal Farmers"), नवम्बर 2008.

163 रावल, "भूमि का स्वामित्व", ऊपर दिए संदर्भ से (Rawal, "Ownership of Holdings", op. cit.)

164 मराठा समुदाय के उदाहरण से देखा जा सकता है कि जाती व्यवस्था कैसे अन्य अन्य जातियों के वर्ग चेतना को भयंकर रूप से बाधित करता है। मराठा समुदाय का ऊपरी तबका महाराष्ट्र के शासक वर्ग का एक प्रमुख हिस्सा है। (एक अध्ययन के अनुसार, राज्य (महाराष्ट्र) में 75 प्रतिशत से ज्यादा जमीन मराठा समुदाय के पास है; वे 71 प्रतिशत सहकारी संस्थाओं, 105 में 86 चीनी मिलें और 54 प्रतिशत शैक्षणिक संस्थाओं को नियंत्रित करते हैं। 1962 से 2004 तक चुने गए कुल 2430 विधायकों में 55 प्रतिशत मराठा थे। 1962 से 17 मुख्यमंत्रियों में 12 मराठा रहे हैं।) बहरहाल, किसानों में इस प्रभुत्वशाली जाति, जो कि जनसंख्या का 30 प्रतिशत है, के गरीब किसानों की बड़ी आबादी कृषि संकट और रोजगार के सामान्य संकट से पीड़ित रही है। एक वर्ग आधारित कृषि आन्दोलन के बजाय इस असंतोष को मराठा लोगों के लिए आरक्षण का प्रावधान और अत्याचार निवारण कानून (Prevention of Atrocities Act)को रद्द करने की मान करने वाले आन्दोलन में तब्दील कर दिया गया है।

165 असंगठित क्षेत्र में उद्यमों के लिए राष्ट्रीय आयोग, ऊपर दिए गए संदर्भ से।

एक नवीनतम अध्ययन के आँकड़ों के अनुसार हिन्दुस्तान के जंगलों में रहने वाले कुल लोगों की संख्या 150 मिलियन है जिसमें 90 मिलियन आदिवासी है।[166] बड़ी धूम के साथ लागू किए गए वनाधिकार कानून 2006 (Forest Rights Act 2006) की बात करें तो जुलाई 2016 तक वनाधिकार के लिए कुल 4.07 मिलियन व्यक्तिगत दावा दर्ज किया गया जिसमें 3.69 मिलियन दावों का निपटारा कर दिया गया और सिर्फ 1.64 मिलियन दावों पर अधिकार दिए गए। जिसका मतलब है कि कुल व्यक्तिगत दावों में सिर्फ 40 प्रतिशत को अधिकार मुहैया कराए गए बाकी बचे दावों को शायद रद्द कर दिया गया।[167] सामुदायिक जंगल के सम्बन्ध में, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, जितने भी अधिकार दिए गए हैं वह उस श्रेणी में आने वाली जमीन का महज 1.2 प्रतिशत है।[168]

आदिवासियों को उनके संसाधनों से बेदखल करके उनके जीवन को असुरक्षित बनाने वाले इसी औपनिवेशिक लूटपाट के आधार पर आदिवासी समाज तमाम शोषकों द्वारा किए गए लूट–खसोट का शिकार बनता रहा है। योजना आयोग कराए गया एक अध्ययन "उग्रवाद प्रभावित क्षेत्रों में विकास चुनौतियाँ" (Development Challenges in the Extremist affected Areas 2008) बताता है कि "जमीन से अलगाव, जमीन से जबरन बेदखली, और विस्थापन ने भी अशांति को बढ़ाया है। अनुसूचित क्षेत्रों में सुरक्षा प्रदान करने वाले नियमों और प्रावधानों को लागू करने में असफलता, लोन मुहैया कराने वाली व्यवस्था की गैर–मौजूदगी से सूदखोरों पर बढती निर्भरता और कर्ज का दबाव व साथ ही सरकार के अंगों द्वारा अकसर की जा रही हिंसा ने समस्या (उग्रवाद) को बढ़ा दिया है।" के. बालागोपाल बताते हैं कि कैसे 1990 के दशक की शुरुआत में एक आधिकारिक आदेश जारी किया गया जो कि आंध्र प्रदेश के सिर्फ पश्चिमी गोदावरी जिला तक सीमित था, इस आदेश में स्तःनीय राजस्व अधिकारियों से कहा गया:

> गाँवों में बैठकर आदिवासियों और गैर–आदिवासियों की उपस्थिति में जमीन से संबंधित दस्तावेज पढ़े, और गैर–कानूनी ढंग से कब्ज़ा किए गए जमीनों की पहचान कर आगे की कार्यवाई करने के लिए उनसे (गाँव वालों से) राय लीजिए। उस कार्यकारी आदेश पर काम सिर्फ कुछ ही गांवों में किया गया था और वास्तव में सैकड़ों एकड़ जमीन पर

166 अधिकार एवं संसाधन में पहल, वसुंधरा, नैचुरल रिसोर्सेज़ मैनेजमेंट कंसलटेंट्स, भारत के वन अधिकार अधिनियम के तहत सामुदायिक वन संसाधन अधिकारों की मान्यता की सम्भावना (Rights and Resources Initiative, Vasundhara, Natural Resources Management Consultants, Potential for Recognition of Community Forest Resource Rights Under India's Forest Rights Act: A Preliminary Assessment), जुलाई 2015.

167 जनजातीय कार्य मंत्रालय, अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के कार्यान्वयन की स्थिति रिपोर्ट, 31 जुलाई, 2016 को समाप्त होने वाले अवधि के लिए (Ministry of Tribal Affairs, Status report on implementation of the Scheduled Tribes and Other Traditional Forest Dwellers (Recognition of Forest Rights) Act, 2006, for period ending July 31, 2016).

168 गोपालकृष्णन, ऊपर दिए गये संदर्भ से (Gopalakrishnan, op.cit.); और भी देखें, अधिकार एवं संसाधन में पहल, ऊपर दिए गये संदर्भ से (Rights and Resources Initiative, op. cit.)

> गैर–कानूनी कब्ज़ा पाया गया। हालाँकि, उसके बाद गैर–आदिवासियों की कट्टरता की वजह से उस आदेश पर काम विफल हो गया।[169]

रवि श्रीवास्तव लिखते हैं कि

> आदिवासियों में निर्धनता का सबसे महत्वपूर्ण कारण आदिवासियों का उनकी जमीन से अलगाव है जिसके चलते उनकी आर्थिक स्थिति जो कि सबसे अच्छे में भी दयनीय होती है वह और भी ज्यादा अनिश्चितता से भर जाती है...उदाहरण के तौर पर आंध्र प्रदेश की रिपोर्ट में उजागर एक तथ्य से समस्या की विकरालता का आंकलन किया जा सकता है कि वर्तमान में *राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों में आधे से ज्यादा जमीनों पर स्वामित्व गैर–आदिवासियों का है।* मध्य प्रदेश और अन्य राज्यों में कुल अनुसूचित जनजाति कामगारों में खेती करने वाले अनुसूचित जनजातियों की प्रतिशतता में लगातार गिरावट होती रही है। यह अध्ययन इस बात को भी स्थापित करते हैं कि खुद सरकारी नीतियाँ ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आदिवासियों को उनकी जमीन से अलग करने में योगदान किया है।यह भी देखने को मिला कि कई राज्यों में सहकारी ऋण समितियों और बैंकों द्वारा बकाया राशि की वसूली के लिए आदिवासी जमीनों की नीलामी की जा रही है। नीलाम हो रही जमीन गैर–आदिवासियों के साथ–साथ धनी आदिवासी द्वारा भी खरीदी जा रही है। यह सब आदिवासी जमीन की बिक्री के नियमन के लिए जिम्मेदार आधिकारियों के साथ साठ–गाँठ से होता है।[170]

वर्तमान में 'विकास परियोजनाओं' के नाम पर शासक वर्ग आसानी से आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल कर देता है जिसका आधार भी औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा जंगल में रहने वाले लोगों की लूटपाट है, जिसकी वजह से जमीन और अन्य संसाधनों पर उनके (जंगल में निवास करने वाले आदिवासी) अधिकार और नियंत्रण असुरक्षित हो गए। मतलब कि सुरक्षित भूमि अधिकारों की गैर–मौजूदगी ही दरअसल कॉर्पोरेट घरानों द्वारा जमीन और अन्य प्राकृतिक संसाधनों की लूट में सहूलियत देती है। और, यह प्रक्रिया वर्तमान की 'विकास' गाथा को समझने में मदद करती है। एक अनुमान, जिसका हवाला व्यापक रूप से दिया जाता है, के अनुसार 1947 से 2004 की अवधि में ऐसे परियोजनाओं की वजह से 60 मिलियन लोग विस्थापित हुए हैं जिसमें 7 मिलियन हेक्टेअर जंगल और 6 मिलियन हेक्टेअर अन्य सामूहिक संपत्ति संसाधन शामिल हैं। देश की कुल जनसंख्या का महज 8 प्रतिशत होने के बावजूद, विस्थापित होने वाले कुल लोगों की संख्या का 40 प्रतिशत यानी 24 मिलियन आदिवासी हैं। इन विस्थापितों में सिर्फ एक–तिहाई लोगों का ही पुनर्वास हुआ है।[171]

---

169 के. बालगोपाल, "जनजातीय क्षेत्रों में अवैध अधिग्रहण", ई. पी. डब्लू. (K. Balagopal, "Illegal Acquisition in the Tribal Areas", EPW), 6/10/2007.

170 श्रीवास्तव, ऊपर दिए गए संदर्भ से (Srivastava, op cit.)

171 वाल्टर फ़र्नांडेस, Walter Fernandes, "विकास की मानवीय लागत – प्रेरित विस्थापन", इंडिया सोशल डिवेलप्मेंट रिपोर्ट, 2008 ("The Human Cost of Development – Induced Displacement", in India Social Development Report, 2008), अतिवादी प्रभावित क्षेत्रों में विकास के लिए चुनौतियां: योजना आयोग के एक विशेषज्ञ समूह की रिपोर्ट, योजना आयोग, (Development Challenges in the Extremist–Affected Areas: Report of an Expert Group to Planning Commission, Planning Commission), 2008, पृष्ठ 15 से उद्धृत। विस्थापित होने वाले लोगों में अन्य 20 प्रतिशत दलित और 20 प्रतिशत अन्य पिछड़ा वर्गों के थे (OBCs)।

इस प्रकार, वन क्षेत्रों में मौजूद भूमि सम्बन्ध भले ही देश के अन्य हिस्सों में व्याप्त विभिन्न स्थितियों से बहुत अलग हो, लेकिन उनमें कुछ समानताएं हैं: वास्तव में, *अपने जल, जंगल, जमीन और बाकी धन सम्पदा पर अपने अधिकार का दावा करने और उसे स्थापित करने के दौरान आदिवासी इस बात को मजबूती से रखते है कि विकास के नाम पर बेकार और रद्दी वस्तुओं की तरह इधर–उधर फेंके जाने और विस्थापित होने से जंगल में रहने वाले लोग खुद को बचा सकते हैं*।

महिला मुक्ति और जमीन का सवाल

जबकि महिलाओं ने खेतीबाड़ी से संबंधित कामों में हमेशा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हैं, पुरुष कार्यबल का एक हिस्सा कृषि से बाहर निकल जाने से कृषि में शामिल कुल कार्यबल में महिलाओं का हिस्सा बढ़ गया है। NSS जिनको किसान के रूप में 'विशेषतौर से कार्यरत' मानता है उसमें महिलाओं का हिस्सा सबसे ज्यादा– 38.7 प्रतिशत है।[172] वानिकी/बागान (forestry/plantation) के कामों में महिलाएं बहुसंख्यक हैं और पशुपालन में लगे हर पांच व्यक्तियों में तीन महिलाएं हैं। 2006 में लिंग और कृषि (gender and agriculture)पर बने योजना आयोग का एक उपसमूह कहता है:

महिला कामगारों का तीन–चौथाई हिस्सा कृषि में शामिल है। प्रमुख अनाज और बाजरा का उत्पादन, खेती के लिए जमीन तैयार करना, बीज का चुनाव और रोपाई के लिए पौध तैयार करना, बुवाई, खाद डालना, उर्वरक और कीटनाशक का छिडकाव करना, निराई, रोपाई, कटाई–छटाई और भूसी निकालना, पशुधन उत्पादन, मछली उत्पादन, वनोपज (जिसमें इमारती लकड़ी शामिल नहीं है) का संग्रह आदि में महिलाएं व्यापक रूप से काम करती हैं। पशुपालन में महिलाएं तमाम तरह का काम करती हैं जैसे– पशुओं की देखभाल, उनको चराना, उनके चारा का प्रबंध करना, पशुओं के रहने की जगह की साफ–सफाई, दूध का प्रसंस्करण और अन्य पशुधन उत्पाद से संबंधित काम। दुधारू जानवरों और जुगाली करने वाले छोटे पशुओं का पालन और घर में मुर्गी पालन गरीब खेतिहर परिवारों और खेतिहर मजदूरों के लिए आय का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है। क्यूँकि भूमिहीन खेतिहर महिला मजदूर खेतीबाड़ी के ज्यादातर कामों को करती हैं इसलिए कृषि में उनकी भूमिका काफी निर्णायक है। भूमिहीन महिलाएं खेती करने के लिए जमीन लीज पर भी लेती हैं। वनोपज संग्रह के काम में शामिल कामगारों में महिलाओं, खरकर आदिवासी महिलाओं की संख्या सबसे ज्यादा है। जलावन लकड़ी, चारा, पीने का पानी का इंतज़ाम और परिवार के अन्य सदस्यों और पालतू जानवरों के लिए पानी का प्रबंध करने जैसे कामों को करके महिलाएं परिवार के संसाधन को बढाती भी हैं।

बहरहाल, आमतौर पर महिलाओं को जमीन के अधिकार से वंचित करके जमीन का पुरुष सदस्यों के नाम पर होना जारी है। भले ही कानून और सरकारी योजनाओं के माध्यम से संयुक्त पट्टा जैसे प्रावधान स्थापित होने थे, लेकिन ऐसे प्रावधानों के वास्तविक कार्यन्वयन को बल देने के लिए जरूरी जनतांत्रिक सत्ता व्यवस्था के न

172 असंगठित क्षेत्र में उद्यमों के लिए राष्ट्रीय आयोग, ऊपर दिए गए संदर्भ से।

होने से ज्यादा प्रगति करने की सम्भावना नहीं है इसलिए ऐसे प्रावधानों का बहुत ज्यादा मतलब भी नहीं है। जमीन पर स्वामित्व में महिलाओं का हिस्सा जो कि भारतीय स्थिति में महिलाओं के सम्पूर्ण मुक्ति का एक अहम् अंग है, और यह सिर्फ आमूल भूमि सुधार के तहत ही संभव है जो कि चीन की क्रांति के अनुभवों में देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

1991 के बाद उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की उदारवादी नीतियों के प्रभाव में भारतीय कृषि क्षेत्र में शोषण और उत्पीड़न के पुराने स्वरुप नष्ट नहीं हुए हैं, बल्कि जिन्दा हैं और कुछ मायनों में पहले से ज्यादा बढ़ गए हैं।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है, नवउदारवादी शासन व्यवस्था के दौरान किसानों के एक बड़े तबके के लिए सरल पुनरुत्पादन (simple reproduction)भी खासा मुश्किल हो गया है जो कि लाखों किसानों की आत्महत्या के रूप में हमारे सामने है। बढती तादाद वाले सबसे ज्यादा वंचित और उत्पीड़ित परिवार अपनी थोड़ी बहुत जमीन भी खो चुके हैं जिस पर वे कभी खेती किया करते थे। गरीब किसान खेती को अव्यवहारिक पा रहे हैं और अपने जमीन के कुछ हिस्सों से अलग होने के लिए मजबूर भी है, बावजूद इसके किसी अन्य तरह के व्यावहारिक रोजगार में जाने जाने में असमर्थ हैं।

साथ ही विनिर्माण रोजगार (manufacturing employment) अभी भी काफी कम है जो कि कुल रोजगार का सिर्फ 12 प्रतिशत ही है। इसमें भी, एक बड़ी संख्या असंगठित क्षेत्र में हैं। यह असंगठित क्षेत्र आश्रय क्षेत्र या यूँ कहें कि कूड़ा डालने का क्षेत्र जहाँ आय कृषि से प्राप्त होने वाली आय से भी कम है। इस प्रकार, धीरे–धीरे बढ़ रही भूमिहीनता के साथ औद्योगिक अर्थव्यवस्था की दिशा में रोजगार का ढांचागत परिवर्तन नहीं हो रहा है।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है कि किसानों की लाचारी की इन दशाओं में किसानों पर सूदखोर साहूकारों की उधारी और व्यावसायिक पूंजी द्वारा उनका शोषण दरअसल तेजी से बढ़ा है। इन सभी वजहों से किसानों के लिए लाभ को बचाकर उत्पादन में फिर से निवेश करना बेहद मुश्किल है। सामाजिक विभाजन जैसे दलित, आदिवासी और महिलाओं के रूप में इन प्रक्रियाओं के और भी आयाम हैं।

जैसा कि हमने इससे पहले के भागों में चर्चा की है, एक मायने में यह स्थितियाँ औद्योगिक सामानों के लिए बाज़ार को सिकोड़ देती हैं। बहरहाल, विदेशी निवेशक और भारतीय कॉर्पोरेट क्षेत्र उनको बाधा के रूप में नहीं देखता है। वास्तव में, यह परिस्थितियां काफी हद तक उनके हित में काम करती हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि कृषि की बुरी हालत उन्हें सस्ता श्रमबल मुहैया कराती है, लेकिन यह सिर्फ इकलौता फायदा नहीं है। मौजूदा स्थितियों में, जमीन और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़ा कॉर्पोरेट क्षेत्र का विकास करता है। कॉर्पोरेट क्षेत्र के नज़र में किसानों की आर्थिक बदहाली और असुरक्षा जमीन और संसाधनों की ऐसी लूट में मदद करती है।

यह एक अलग बात है कि कई जगहों पर किसानों के साहसिक प्रतिरोधों ने उनकी (कॉर्पोरेट घरानों की) योजनाओं को बिगाड़ दिया है।

साथ ही, जैसा हमने ऊपर बताने कि कोशिश की है कि उदारवादी नीतियों के खिलाफ प्रभावी प्रतिरोध मौजूदा कृषकीय संबंधों में आमूल बदलाव के लिए संघर्ष पर ही आधारित होना चाहिए।

यह अनुवाद क्यों?

इस देश की अर्थव्यवस्था के किसी भी पहलू की राजनैतिक समझ बनाने के लिए कृषि क्षेत्र का आंकलन ज़रूरी है। कृषि क्षेत्र, जिस पर आज भी हमारी आधे से भी ज़्यादा आबादी रोज़गार के लिए निर्भर है और खाने के लिए तो पूरी आबादी ही उस पर निर्भर है, इसके बावजूद, यह क्षेत्र लम्बे समय से भीषण संकट से गुज़र रहा है। मुख्यधारा तो किसानों को ही कृषि क्षेत्र में विकास का प्रमुख अड़चन मानती है, ज़ाहिर है कि कृषि क्षेत्र के आमूल बदलाव में किसानों की निर्णायक भूमिका हो सकती है ऐसी संभावना को ही वह सिरे से खारिज़ करते हैं। पर जो लोग इससे गुणात्मक रूप से भिन्न परिवर्तन चाहते हैं उन्हें इस भीषण संकट से जूझने के लिए एकदम अलग तरीके अपनाने होंगे। उन प्रयासों के केंद्र में होंगे किसान – खासतौर पर छोटे, हाशिए पर और भूमिहीन किसान, और खोजनी होंगी वह सभी बाधाएं जो उनकी उत्पादकता, संगठन बनाने की शक्ति, सामूहिकता और परिवर्तनकारी क्षमता को रोके हुए हैं। इसी उम्मीद के साथ हमने *रुपे* द्वारा निकाले जाने वाली पत्रिका *आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियास इकोनोमि* ***(Aspects of India's Economy)*** के *खंड 66–67: इंडियास पेसेंट्री अंडर निओलिब्रल रूल* ***(India's Peasantry Under Neoliberal Rule)*** का हिंदी अनुवाद अनुवाद करने का फैसला किया है।

Released under license http://creativecommons.org/publicdomain/zero/1.0/.

In summary, Karwan Collective waives all copyright and related or neighboring rights to this translation. Please feel free to make copies or distribute this work further.

लाइसेंस http://creativecommons.org/publicdomain/zero/1.0/ के अंतर्गत जारी।

संक्षेप में, कारवां कलेक्टिव इस अनुवाद का सम्पूर्ण कॉपीराइट और सम्बन्धित या क़रीबी अधिकार त्याग रहा है। कृपया इस काम की प्रतियाँ बनाने या इसे आगे बाँटने से ना हिचकें।

प्रकाशक कारवां कलेक्टिव, अक्टूबर 2017 **मुद्रण** स्वराज विद्यापीठ, इलाहाबाद

प्रतियों के लिए

फ़ोन 9235406243, 7607056569 **ईमेल** karwan.collective@gmail.com

डाक कारवां कलेक्टिव c/o स्वराज विद्यापीठ, 21 बी, मोतीलाल नेहरु रोड, इलाहाबाद 211002

प्रस्तावित सहयोग राशि ₹ 80/– या कम